

समरथ



जुलाई-अगस्त 2011 ♦ नई दिल्ली



नाहि तो जन्म नसाई

ये वर्ष उपमहाद्वीप के कई महान कवियों का जन्म शताब्दी वर्ष है। इसी सिलसिले में हमने फैज़ अहमद फैज़ और केदारनाथ अग्रवाल जैसे कवियों की कुछ रचनाएं पिछले अंकों में पेश कीं। प्रस्तुत अंक में उपमहाद्वीप के एक अन्य बड़े कवि मजाज़ लखनवी की दो कविताएं प्रस्तुत कर रहे हैं। यद्यपि आमतौर पर मजाज़ लखनवी का जन्म सन् 1909 माना जाता है लेकिन कुछ विद्वान उनके जन्म का वर्ष 1910 या 1911 भी मानते हैं। ये उनका जन्म शताब्दी वर्ष है या दो वर्ष पहले गुजर चुका है ये मुद्दा उतना महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण ये है कि इस प्रख्यात कवि ने जो तस्वीर अपने समाज की पेश की, और जो उम्मीदें समाज के तमाम प्रगतिशील लोगों से रखीं उनकी सार्थकता आज भी उतनी ही नज़र आती है जितनी स्वयं मजाज़ के समय में थी। मजाज़ की नज़्म 'आवारा' अपने दौर की जो मुकम्मल छवि प्रस्तुत करती है ऐसी छवि उस दौर की किसी अन्य कविता में नज़र नहीं आती है। भ्रम, दिशाहीनता, निराशा, गुस्सा और उम्मीद का हर पहलू इस कविता का मर्म है। लेकिन हर बड़े कवि की तरह मजाज़ भी निराशा के दौर की तस्वीर पेश कर चुप नहीं बैठ जाते। उम्मीद का दामन नहीं छोड़ते। आम जनसमूह से आस लगाते हैं कि वो तस्वीर बदले। यहां मजाज़ की प्रस्तुत दूसरी कविता इसी आह्वान, इसी उम्मीद और आने वाले बेहतर कल का तराना है। ये दोनों कविताएं 1930 और 1940 के दशक में दुनियाभर में चल रहे 'साहित्य और कला समाज के लिए' के अंतर्गत चली चर्चा का एक जवाब भी हैं। साहित्य समाज की सिर्फ तस्वीर प्रस्तुत करे या तस्वीर बदलने के तरीके भी बताए, ये दो धारे साहित्य की चर्चा का केंद्र रहे। मजाज़ और उनके समय भारत में चल रहा प्रगतिशील आंदोलन दूसरी धारा का समर्थक था जिसके अंतर्गत साहित्य को केवल समाज का दर्पण ही नहीं बनना बल्कि 'समाज के आगे चलने वाली मशाल' (प्रेमचंद) बनकर पथ प्रदर्शक की भूमिका निभानी है।



■ मजाज़ लखनवी

शहर की रात और मैं नाशाद-ओ-नाकारा¹ फिरूं
जगमगाती जागती सड़कों पे आवारा फिरूं
ग़ैर की बस्ती है, कब तक दर-ब-दर मारा फिरूं
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

झिलमिलाते कुमकुमों की² राह में जंजीर सी
रात के हाथों में, दिन की मोहनी तस्वीर सी
मेरे सीने पर मगर चलती हुई शमशीर³ सी
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

ये रुपहली⁴ छांव, ये आकाश पर तारों का जाल
जैसे सूफ़ी का तसव्वुर⁵, जैसे आशिक़ का ख़याल
आह लेकिन कौन जाने, कौन समझे जी का हाल
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

फिर वो टूटा एक सितारा, फिर वो छूटी फुलझड़ी
जाने किसकी गोद में आई ये मोती की लड़ी
हूक़ सी सीने में उट्टी, चोट सी दिल पर पड़ी
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

रात हंस-हंस के ये कहती है कि मैखाने⁶ में चल
फिर किसी शहनाज़े-लाला-रुख के⁷, काशाने⁸ में चल
ये नहीं मुमकिन तो फिर ऐ दोस्त वीराने में चल
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

हर तरफ़ बिखरी हुई, रंगीनियां रा'नाइयां
हर कदम पर इश्रते⁹ लेती हुई अंगड़ाइयां
बढ़ रही हैं गोद फैलाए हुए रुसवाइयां
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

रास्ते में रुक के दम ले लूं, ये मेरी आदत नहीं
लौटकर वापस चला जाऊं, मेरी फ़ितरत¹⁰ नहीं
और कोई हमनवा¹¹ मिल जाए, ये किस्मत नहीं
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

मुन्तज़िर है एक तूफ़ाने-बला¹² मेरे लिए
अब भी जाने कितने दरवाज़े हैं वा¹³ मेरे लिए
पर मुसीबत है मेरा अहदे-वफ़ा¹⁴ मेरे लिए
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

जी में आता है कि अब अहदे-वफ़ा भी तोड़ दूं
उनको पा सकता हूं मैं ये, आसरा भी छोड़ दूं
हां मुनासिब है ये जंजीरे-हवा¹⁵ भी तोड़ दूं
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

इक महल की आड़ से निकला वो पीला माहताब¹⁶
जैसे मुल्ला का अमामा¹⁷ जैसे बनिए की किताब
जैसे मुफ़लिस¹⁸ की जवानी, जैसे बेवा का शबाब¹⁹
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

दिल में इक शो'ला भड़क उट्टा है, आखिर क्या करूं
मेरा पैमाना छलक उट्टा है, आखिर क्या करूं
ज़ख़्म सीने का महक उट्टा है आखिर क्या करूं
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

जी में आता है, ये मुर्दा चाँद-तारे नोच लूँ
इस किनारे नोच लूँ, और उस किनारे नोच लूँ
एक दो का ज़िक्र क्या, सारे के सारे नोच लूँ
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

मुफ़लिसी और ये मज़ाहिर²⁰ हैं नज़र के सामने
सैकड़ों सुल्ताने-जाबिर²¹ हैं नज़र के सामने
सैकड़ों चंगेज़ो-नादिर हैं नज़र के सामने
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

लेके इक चंगेज़ के हाथों से खंजर तोड़ दूं
ताज पर उसके दमकता है जो पत्थर तोड़ दूं
कोई तोड़े या न तोड़े मैं ही बढ़कर तोड़ दूं
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

बढ़के इस इन्दर-सभा का साज़ो-सामां फूंक दूं
इस का गुलशन फूंक दूं, उस का शबिस्ता²² फूंक दूं
तख़्ते-सुल्ता²³ क्या, मैं सारा क़से-सुल्ता²⁴ फूंक दूं
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं!

बोल! अरी ओ धरती बोल!

बोल ! अरी ओ धरती बोल !

राज सिंहासन डावांडोल

बादल बिजली, रैन अधियारी दुख की मारी परजा सारी
बूढ़े-बच्चे सब दुखिया हैं दुखिया नर हैं दुखिया नारी
बस्ती-बस्ती लूट मची है सब बनिये हैं सब ब्योपारी

बोल ! अरी ओ धरती बोल !

राज सिंहासन डावांडोल

कलजुग में जग के रखवाले चांदी वाले सोने वाले,
देसी हों या परदेसी हों नीले, पीले, गोरे, काले
मकखी, भुनगे भिन-भिन करते दूढ़े हैं मकड़ी के जाले

बोल ! अरी ओ धरती बोल !

राज सिंहासन डावांडोल

क्या अफरंगी, क्या तातारी¹ आंख बची और बरछी मारी
कब तक जनता की बेचैनी कब तक जनता की बेज़ारी
कब तक सर्माए के धंधे कब तक यह सर्मायादारी

बोल ! अरी ओ धरती बोल !

राज सिंहासन डावांडोल

नामी और मशहूर नहीं हम लेकिन क्या मज़दूर नहीं हम
धोका और मज़दूरों को दें ऐसे तो मजबूर नहीं हम
मंज़िल अपने पांव के नीचे मंज़िल से अब दूर नहीं हम

बोल ! अरी ओ धरती बोल !

राज सिंहासन डावांडोल

बोल कि तेरी खिदमत की है बोल कि तेरा काम किया है
बोल कि तेरे फल खाए हैं बोल कि तेरा दूध पिया है
बोल कि हमने हश्म² उठाया बोल कि हमसे हश्म उठा है

बोल कि हमसे जागी दुनिया

बोल कि हमसे जागी धरती

बोल ! अरी ओ धरती बोल !

राज सिंहासन डावांडोल

आवारा- 1. उदास और बेकार, 2. बिजली की बतियों की, 3. तलवार, 4. चांदी-रंग, 5. अनुध्यान, 6. मधुशाला, 7. लाला के फूल-ऐसे मुखड़े वाली के, 8. मकान में, 9. सुख-भोग, 10. स्वभाव या प्रकृति, 11. साथी, 12. विपत्तियों का तूफान, 13. खुले हुए, 14. प्रेम निभाने की प्रतिज्ञा, 15. वायु की जंजीर (व्यर्थ की आशा), 16. चांद, 17. पगड़ी, 18. निर्धन, 19. यौवन, 20. दृश्य, 21. अत्याचारी बादशाह, 22. शयनागार, 23. शाही तख्त, 24. शाही महल।

बोल! अरी ओ धरती बोल!- 1. तुर्किस्तान निवासी, 2. प्रलय, तूफान।

इन्कलाबी विरासत के मायने

■ सुधीर विद्यार्थी

पटना का नाम जब मेरे मस्तिष्क में आता है तो वह एक कील की तरह चुभता है। इस चुभने के पीछे एक कारण है। पटना की याद आते ही मेरे सामने एक तस्वीर उभरती है शहीदे-आज़म भगतसिंह के क्रांतिकारी साथी बटुकेश्वर दत्त की। आप जानते हैं कि दत्त ने दिल्ली की केंद्रीय असेम्बली में, जो आज की संसद है, उसमें भगतसिंह के साथ बम का विस्फोट किया था 8 अप्रैल 1929 को। इसमें दत्त को आजीवन कारावास की सजा मिली थी। बाद के दिनों में दत्त पटना में रह रहे थे। एक पुरानी साइकिल पर दो सेर आटा और कुछ लकड़ियों का जुगाड़ करके लाते। पटनावासियों में पता नहीं उन्हें किसी ने देखा या नहीं, लेकिन उस अजेय क्रांतिकारी की वह छवि मुझे भूलती नहीं और उसका ध्यान आते ही मैं बार-बार तकलीफ से भर जाता हूँ। इस देश के लोगों ने अपने क्रांतिवीरों के साथ वह सलूक नहीं किया या वह सम्मान उन्हें नहीं दिया, जिसके वह हकदार थे। बहुत बीमारी की स्थिति में जब बटुकेश्वर दत्त दिल्ली इलाज के लिए ले जाए गए तो रेलवे स्टेशन पर स्ट्रेचर से उतारते समय एक पत्रकार ने उनसे पूछा था कि आज आप कैसा महसूस कर रहे हैं? दत्त ने उत्तर दिया था कि मुझे कभी उम्मीद नहीं थी, मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि जिस दिल्ली में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध बम का धड़ाका किया था, उस जगह कभी इस स्थिति में भी लाया जाऊँगा। मुझे नहीं मालूम कि पटना शहर के जक्कनपुरा मोहल्ले की उस गली में, जिसका नाम “बटुकेश्वर दत्त लेन” रखा गया है, वहाँ उनकी पत्नी अंजली दत्त जीवित भी हैं अथवा नहीं या बटुकेश्वर दत्त की बेटी भारती अब कहाँ और किस स्थिति में है। यह बात पटना के संदर्भ में बहुत तकलीफ के साथ मुझे कहनी पड़ी। आज बहुत सारी पत्रिकाओं के संपादक और पुस्तक प्रकाशक मुझसे चीजें मांगते हैं और मुझे दबाव के तहत लिखना भी पड़ता है, लेकिन बहुत मन से जो एक काम ज़रूरी तौर पर करना चाहता हूँ, वह है क्रांतिकारी बटुकेश्वर दत्त की जीवनी लिखने का। मुझे भरोसा है कि भगतसिंह जन्मशताब्दी वर्ष में मैं इस काम को पूरा कर लूँगा...

आज 19 दिसंबर है। हिंदुस्तान के तीन बड़े क्रांतिकारी एक मामले में, और संयोग की बात है कि तीनों हमारे ही जिले शाहजहाँपुर के रहने वाले थे-रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला

ख़ाँ और ठाकुर रोशनसिंह। ये दिसंबर 1927 की 19 तारीख को क्रमशः गोरखपुर, फैजाबाद और इलाहाबाद की जेलों में काकोरी के मुकदमे में फाँसी पर लटका दिए गए। यह शहादत हमारे इतिहास, हमारे क्रांतिकारी आंदोलन के पन्नों में एक बड़ा महत्व रखती है।

यह सही है कि देश की आज़ादी का संग्राम इतिहासकार 1857 से मान लेते हैं। एक सीमा-रेखा तय कर लेते हैं कि वह लड़ाई सत्तावन में शुरू हुई थी। हम मानते हैं कि 1857 एक बड़े संग्राम के रूप में सामने आया, लेकिन युद्ध तो दरअसल विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध उसी समय शुरू हो गया था जब अंग्रेजों ने इस धरती पर अपने कदम रखे थे। हाँ, ज़्यादा संगठित और महाविस्फोट के रूप में सत्तावन की तारीख हमारे सामने आई। लेकिन इतिहास को देखने पर यह भी पता लगता है कि सत्तावनी क्रांति से पहले पिंडारी, बहावी और सन्यासी विद्रोह ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरोध में उपजे संग्राम थे। 1857 क्या था, इसमें हम बहुत विस्तार से नहीं जाएंगे। यह कहकर हम आगे बढ़ेंगे कि इस क्रांति के वक्त एक तराना लिखा गया था, गाया गया था- हम हैं इसके मालिक हिंदुस्तान हमारा। यह गीत क्रांतिकारी अजीमुल्ला का है। इसकी पहली ही पंक्ति यह स्पष्ट करती है कि विदेशी उपनिवेशवाद के विरुद्ध तब हम संयुक्त रूप से उठ खड़े हुए थे। अगर इस संपूर्ण गीत को सामने रखा जाए और इक़बाल के कौमी तराने ‘सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा’ को ठीक से देखा जाए तो कई बार लगता है कि इक़बाल की रचना मौलिक नहीं है।

सत्तावनी संग्राम को यहीं छोड़कर थोड़ा आगे बढ़कर देखें तो 1914-15 में देश की आज़ादी के लिए विदेशी धरती पर-अमरीका की धरती पर ‘गदर पार्टी’ का निर्माण हुआ। उस गदर पार्टी के एक क्रांतिकारी थे करतार सिंह सराभा। भगतसिंह सराभा को अपना गुरु मानते थे। वे सराभा की फोटो हर समय अपने पास रखा करते थे। गदर पार्टी के लोग हिंदुस्तान आए देश की स्वतंत्रता का एक बड़ा संकल्प लेकर, बड़ा अभियान लेकर। उनमें सराभा और पं. परमानंद झाँसीवाले भी पकड़ लिये गये। मुकदमा चला और करतार सिंह को फाँसी तथा परमानंद जी को आजीवन कारावास की सजा मिली। पंडित जी हमीरपुर जिले में राठ के रहने वाले थे। करतार को जिस दिन फाँसी होने

वाली थी, दोनों क्रांतिकारी पास-पास की कोठरियों में बंद थे। करतार की फाँसी के दिन बहुत सवरे पंडित जी ने करतार को आवाज़ देकर बुलाया। बोले-करतार, क्या कर रहे हो? करतार सिंह ने जवाब दिया-पंडित जी, कविता लिख रहा हूँ। पंडित जी ने कहा-सुनाओ। करतार ने अपनी कोठरी से ही ऊँची आवाज़ में सुनाया-जो कोई पूछे कौन हो तुम/तो कह दो बागी नाम हमारा/जुल्म मिटाना हमारा पेशा/गदर को करना है काम अपना/श्रीपाठ-पूजा यही हमारी/यही खुदा और राम अपना।

हिंदी की प्रगतिशील कविता का उद्भव 1936 से माना जाता है, लेकिन क्या करतार सिंह सराभा की इस कविता को हम प्रगतिशील कविता नहीं कहेंगे? यह बात मैं आज कवि मंगलेश डबराल और बीरेन जी की उपस्थिति में कह रहा हूँ। बताना चाहता हूँ कि यह संग्राम की कविता थी। जैसी कविता वैसा श्रोता। दोनों क्रांति पथ के पथिक।... और जानते हो, करतार की कविता का पंडित जी ने अपनी कोठरी से उस समय क्या उत्तर दिया था। उन्होंने करतार से कहा था-हम तुम्हारे मिशन को पूरा करेंगे साथियों/कसम हर हिंदी तुम्हारे खून की खाता है आज। हिंदी की प्रगतिशील कविता में करतार की इस कविता को शामिल किया जाना चाहिए। 1914-15 में क्रांतिकारी चेतना को देखिये कि वहाँ धर्म और ईश्वर की जगह देश है। और पंडित जी ने जो करतार को उत्तर दिया था, वह ऐसा है जैसे वह पूरे राष्ट्र की, अपनी संग्रामी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर रहे हों।

अब हम 1924-25 के वक्त में आते हैं या वह तारीख जिसमें देश के दो बड़े क्रांतिकारी पं. रामप्रसाद बिस्मिल और अशफाकउल्ला खाँ, जिनके चित्र हमारे सामने लगे हुए हैं, वे काकोरी के मामले में एक साथ फाँसी पर लटक गए थे। लेकिन मैं यहाँ बता दूँ कि काकोरी षड्यंत्र एकाएक सामने नहीं आ गया था। उससे पहले आया था 1920 और 1921 यानी महात्मा गाँधी का असहयोग आंदोलन। स्वतंत्रता-संग्राम के नाम पर भारतीय राजनीति में एक नया प्रयोग-सत्याग्रह का, असहयोग का। गांधी के इस प्रयोग को देश-भर के क्रांतिकारियों ने बहुत धैर्य के साथ देखा और अपने संग्राम को थोड़े समय के लिए घोषित रूप से स्थगित कर दिया था। गांधी के इस आंदोलन में बहुत से भविष्य के क्रांतिकारियों ने भी हिस्सेदारी की थी, जो इस आंदोलन के बाद क्रांति पथ पर बढ़े और दीर्घजीवी साबित हुए। जैसे मन्मथनाथ गुप्त, चंद्रशेखर आज़ाद और रोशनसिंह। इन सबने एक असहयोगी के रूप में स्वतंत्रता आंदोलन में हिस्सेदारी की थी। लेकिन असहयोग की निराशाजनक समाप्ति के बाद क्रांतिकारियों ने अपने छोड़े हुए हथियार फिर से उठा

लिये। मन्मथनाथ गुप्त, आज़ाद और रोशनसिंह जैसे असहयोगियों ने गांधी के स्वतंत्रता प्राप्ति के तरीके पर अविश्वास करते हुए ही क्रांति की मशाल को अपने हाथों में पकड़ा था। मैं यहाँ गांधी के असहयोग आंदोलन पर एक टिप्पणी ज़रूर करना चाहूँगा, वह यह कि उन्होंने जनता द्वारा लड़े जा रहे संग्राम को चौरीचौरा में जनता की ओर से हुई हिंसा के बहाने ब्रेक लगा दिया। यानी वे लोगों से अपनी शर्तों पर संग्राम लड़वाना चाहते थे। दूसरी बात यह कि उस वक्त गांधी ने खिलाफत आंदोलन का जो साथ दिया, वह एक गलत नज़रिया और बड़ी भूल थी। पहली तो यह कि उन्होंने भारतीय मुसलमानों को देश की आज़ादी के सवाल से न जोड़कर उनके खिलाफत के लिए खड़े होने में उनका साथ दिया और यह भी कि तुर्की में प्रगतिशील शासक अतातुर्क कमालपाशा के विरोध में खलीफा की सल्तनत की वापसी के लिए आंदोलन के पक्ष में चला जाना इतिहास और समय के पहिये को उल्टे घुमाने जैसा था। इसके दूरगामी नतीजे यह निकले कि खिलाफत के समाप्त होते ही उससे जुड़े मुसलमान अपने घरों को लौट गए। असहयोग से उनका कोई वास्ता नहीं रहा। यहाँ से हिंदू और मुसलमानों के बीच एक अलगाव शुरू होता है। आगे चलकर इस अलगाव को मिटाती है बिस्मिल और अशफाकउल्ला की शहादत।

9 अगस्त 1925 को काकोरी ट्रेन डकैती की घटना के सामने आने से पहले देश के क्रांतिकारी पहली बार अखिल भारतीय स्तर पर 'हिंदुस्तान प्रजातंत्र संघ' का गठन कर चुके थे और बाकायदा उसका एक लिखित संविधान भी बनाया गया था, जिसमें कहा गया था कि वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण संभव न हो और न ही एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का। इस दल के संविधान और नाम पर ध्यान देने की ज़रूरत है, यानी उस समय के क्रांतिकारी देश की स्वतंत्रता के साथ ही प्रजातंत्र की स्थापना के प्रति घोषित रूप से सचेत हो चुके थे। यह 1924 की बात है जब देश के क्रांतिकारियों की प्रगतिशीलता को इसलिए भी बखूबी आँका जा सकता है कि उस समय गाँधी या कांग्रेस 'पूर्ण स्वतंत्रता' के नारे के निकट तक भी नहीं पहुँच पाए थे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि काकोरी की फाँसियों के बाद क्रांतिकारी दल के बिखरे हुए सूत्रों को बटोरने और संगठन को नया रूप देने के बड़े उद्देश्य से भगतसिंह ने दिल्ली के फीरोजशाह कोटला के खंडहरों में क्रांतिकारियों की जो गुप्त मीटिंग बुलाई थी, उसमें दल के नाम के साथ 'समाजवादी' शब्द तो जोड़ा गया था, लेकिन पार्टी के संविधान में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।...हाँ, तो मैं यह बता रहा था कि काकोरी का

घटनाक्रम एकाएक नहीं हो गया था। इससे पहले पार्टी के लोग धनी और देशद्रोही व्यक्तियों के घरों से जबरदस्ती पैसा छीनकर दल का काम चलाया करते थे। लेकिन बिस्मिल के भीतर एक मंथन चला था कि इस तरह की कार्यवाहियाँ उचित नहीं हैं। यदि हमला ही करना है तो सीधे सरकार पर किया जाए। काकोरी में रेल रोक कर सरकारी खजाने को लूटने की बात तब ही तय हुई। इस मामले में कोई बहुत बड़ी रकम क्रांतिकारियों के हाथ नहीं आई। केवल दस हजार रुपये मिले थे। लेकिन थी यह ब्रिटिश सरकार को खुली और सीधी चुनौती। शाहजहाँपुर के 10 नौजवान चले थे सिरों पर कफन बांधकर। उन्होंने सहारनपुर से चली 8 डाउन सवारी गाड़ी को जंजीर खींचकर काकोरी के निकट रोक लिया और अपने बाहुबल से गार्ड के डिब्बे में रखा सरकारी खजाना लूट लिया। एक इतिहास बन गया साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष का। अनोखा और रोमांचकारी इतिहास। एक बलिदान की अध्याय।

अपने छात्र जीवन में रेल यात्रा करते हुए मैंने देखा कि अपने गंतव्य पर पहुँचने के लिए जाने कितने छात्र जंजीर खींचकर गाड़ी खड़ी कर देते थे, लेकिन उससे कभी इतिहास नहीं बना। इतिहास बनता है दृष्टि से। इतिहास बनता है बड़े उद्देश्य और लक्ष्य से। और जब लक्ष्य इतना बड़ा हो कि वह साम्राज्यवाद को चुनौती खड़ी करने जैसा बन जाए, तब तो कहना ही क्या। अतीत इस बात का साक्षी है कि शुरुआत में जब इस ऐक्शन की बात तय हुई थी तब अशफाकउल्ला इसके विरोधी थे। उनका तर्क था कि अभी उनका दल नया है और पकड़े जाने पर क्रांति का जो बड़ा लक्ष्य निर्धारित किया गया है, वह कहीं मद्धिम पड़ जाएगा। लेकिन बहुमत से जब इस ऐक्शन का फैसला हो गया तो अशफाक पूरे मनोयोग और दमखम से उसमें साथ चल पड़े। उन्होंने ऐसा नहीं कि अपने मत के पक्ष में पार्टी से हटकर कोई निर्णय लिया हो या अलग रास्ते पर चल पड़े हों वे। आज तो राजनीतिक दलों में लोग मतभेद होने पर सर्वथा पृथक मार्ग की ओर जा चलते हैं या अपनी नई पार्टी खड़ी कर लेते हैं। वे पार्टी के बहुमत का भी सम्मान नहीं करते। यह बात जाहिर करती है कि अशफाकउल्ला के भीतर कितना लोकतंत्र था।

आपको याद होगा कि काकोरी के ही एक चौथे शहीद राजेंद्रनाथ लाहिड़ी थे, जिन्हें 19 दिसंबर 1927-फाँसी के तय दिन से 3 दिन पहले अकारण ही गोंडा जेल में फाँसी पर लटका दिया गया। बाद को क्रांतिकारी मन्मथनाथ गुप्त के भाई मनमोहन गुप्त ने यह रहस्योद्घाटन किया था कि ब्रिटिश सरकार इस बात से डर गई थी कि 19 को गोंडा जेल पर हमला

हो सकता है, इसलिए लाहिड़ी को पहले ही फाँसी पर झुला दिया गया था। यहाँ ध्यान देने योग्य यह भी है कि इस केस के एक अन्य क्रांतिकारी दामोदर स्वरूप सेठ और लाहिड़ी जेल से अदालत जाते समय एक नारा लगाया करते थे—“भारतीय प्रजातंत्र की जय”। यह उद्घोष तब के क्रांतिकारियों के संघर्ष की दिशा को जानने-समझने की एक बड़ी कुंजी है।

बिस्मिल ने जेल के भीतर बैठकर अपनी काल कोठरी में, फाँसी के फंदे के साए में एक महाकाव्य लिखा था। वह है उनकी अपनी आत्मरचना। फूचिक की आत्मकथा जैसी इस कालजयी रचना का वह हिस्सा जो उनके साथी अशफाक, अपने प्रिय सखा को संबोधित है, उसे हम काव्य की श्रेणी में रख सकते हैं। वह बहुत ज़बरदस्त है। एकदम कविता है वह। उससे बहुत सारी बातें साफ होती हैं। जैसे, बिस्मिल ने शुरू में ही कहा था कि अशफाकउल्ला, एक मुसलमान छात्र हमारे पास आया। वह क्रांतिकारी पार्टी में शामिल होने का इच्छुक था। तो मैंने एक मुसलमान समझकर बहुत उपेक्षित ढंग से उसे टालना चाहा। लेकिन अशफाक के भीतर तो एक ज़िद थी, एक सपना था क्रांतिकारी बनने का। उन्होंने धीरे-धीरे बिस्मिल के भीतर यह भरोसा जगा दिया कि वे विश्वास के लायक हैं। बिस्मिल आर्यसमाजी थे। दोनों एक ही शहर के रहने वाले। अशफाकउल्ला एक मुसलमान। जमींदार परिवार के। यद्यपि अशफाक स्वयं कोशिश करके क्रांतिकारी दल में शामिल हुए थे, लेकिन उनके व्यक्तित्व को बनाने में उनकी माँ मज़हरउलनिसा बेगम का बहुत बड़ा हाथ था, जिसे जानना चाहिए। उनकी माँ एक पढ़ी-लिखी महिला थीं। उस ज़माने में उनके पास अखबार आया करते थे। सही अर्थों में वे आधुनिक सोच की थीं। माँ की शिक्षा का अशफाक के ऊपर बहुत असर हुआ, जबकि दूसरी ओर उनके एक मौलवी शिक्षक उन्हें कट्टर मुसलमान बनने की ओर प्रेरित करते थे। अशफाक ने अपनी डायरी में अपने उस मौलवी की बड़ी निंदा की है। अशफाक और बिस्मिल की दोस्ती पर शाहजहाँपुर शहर के दोनों संप्रदायों के लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि एक आर्यसमाजी और मुसलमान में मेल कैसा। बिस्मिल आर्यसमाज मंदिर में रहते थे और अशफाक वहाँ उनके पास आते-जाते थे। दोनों में मित्रता ऐसी हो गई कि वे बहुधा एक साथ, एक थाली में भोजन किया करते थे। उनके भीतर से यह विश्वास ही जाता रहा कि हिंदू और मुसलमान में कोई भेद है। हम बहुत सरलीकृत ढंग से कई बार, अनेक बार कह देते हैं कि एक आर्यसमाजी और एक मुसलमान देश की आज़ादी के लिए एक साथ फाँसी पर चढ़ गए, लेकिन अगर चीज़ों को सही तरीके से, भीतरी तौर पर देखा-परखा जाए ईमानदारी से, तो पता

चलेगा कि बिस्मिल न आर्यसमाजी रह गए थे और न ही अशफाकउल्ला-मुसलमान। दोनों सिर्फ क्रांतिकारी थे, इसके सिवा कुछ नहीं। उन्हें हिंदू या मुसलमान कहकर हम उनके क्रांतिकारित्व को अनदेखा करते हैं, छोटा करते हैं और उन्हें अपमानित करते हैं। हर क्रांतिकारी चीजों को तोड़ता है, अतिक्रमण करता है। आप देखिये कि आर्यसमाज का एक कंसेप्ट है शुद्धिकरण। बिस्मिल स्वयं उसको खारिज करते हैं। वे अपनी आत्मकथा में अशफाकउल्ला के बारे में लिखते हुए कहते हैं-‘मेरा संग-साथ देखकर तुम्हारे घरवाले, रिश्तेदार तुम्हें खुल्लमखुल्ला गालियाँ दिया करते थे। काफिर कहते थे। कहा करते थे कि तुम कहीं शुद्धि न करा लो।’ लेकिन आगे बिस्मिल यह भी कहते हैं कि ‘तुम शुद्धि किस बात की कराते। तुममें तो कुछ अशुद्ध था ही नहीं।’ तो यह था बिस्मिल का क्रांतिकारी नज़रिया, लेकिन जिसे हम प्रायः लोगों के बीच उन्हें आर्यसमाजी कहकर प्रचारित करते हैं, सिर्फ हिंदू-मुस्लिम एकता का नकली रूप दिखाने-बताने के लिए। सही अर्थों में, सही दृष्टि से देखा जाए तो उनके बीच असली एकता क्रांतिकारी विचारों, उसूलों और लक्ष्यों की थी। वहाँ हिंदू या मुसलमान का प्रश्न ही नहीं था।

अब देखिये, काकोरी के मुकदमे में बिस्मिल के विरुद्ध गवाही देने वाला, उन्हें फाँसी चढ़वाने वाला कौन था? वह था मुखबिर बनारसीलाल। हिंदू था वह। उन्हीं के शहर शाहजहाँपुर का रहने वाला। उनका मित्र। तो न हिंदू होना काम आया, न एक शहर का होना और न साथी होना। दूसरी ओर, अशफाकउल्ला को दिल्ली में पकड़वाने वाला मुसलमान। वह भी अशफाक का सहपाठी और था भी उनके उसी शहर का। तो सवाल हिंदू या मुसलमान का नहीं है। यह निरर्थक और बेमानी है। अशफाक ने अपने एक शेर में कहा भी था-‘न कोई इंग्लिश न कोई रशियन न कोई जर्मन न कोई तुर्की/मिटाने वाले हैं अपने हिंदी जो आज हमको मिटा रहे हैं।’

तो अशफाकउल्ला और रामप्रसाद बिस्मिल सिर्फ क्रांतिकारी थे। इसके सिवा कुछ नहीं थे वे। उन्हें हिंदू या मुसलमान बताकर एकता की नकली दीवार नहीं खड़ी की जा सकती। हाँ, दोस्ती हो तो अशफाक और बिस्मिल जैसी। मिलाप हो तो ऐसा। इस अनोखी दोस्ती का एक उदाहरण बिस्मिल की आत्मकथा में ही मिलता है। काकोरी के पहले, शाहजहाँपुर शहर में एक बार हिंदू-मुस्लिम दंगा हुआ। बिस्मिल के साथ अशफाकउल्ला शाहजहाँपुर के आर्यसमाज मंदिर में बैठे हुए थे कि मुस्लिम दंगाइयों का एक हुजूम उधर ही बढ़ता चला आ रहा था। अशफाक ने देखा तो अपना तमंचा तानकर खड़े हो गए वे। कहा-‘खबरदार!’ जो आगे बढ़े।’ दंगाई डर गए और लौट

गए। तो यह चेतना थी उनके भीतर। अशफाक ने इसीलिए फाँसीघर में बैठकर हिंदुस्तान का, आज़ाद हिंदुस्तान का एक खूबसूरत नक्शा बनाया था। समाजवादी भारत का नक्शा और जिसमें रंग भरते हुए वह फूट-फूटकर रोया था तब। उन पन्नों में उसके आँसुओं के निशानों को आज भी पढ़ा जा सकता है। अशफाक ने लिखा था कि वे ‘ऐसी आज़ादी के ख्वाहिशमंद थे, जिसमें सब बराबर हों। खुदा, मेरे बाद वह दिन जल्द आए जब राजा साहब महमूदाबाद, खलीकउज्जमा, धनिया चमार और अब्दुला मिस्त्री लोको वर्कशाप सब एक साथ बैठे नज़र पड़ें।’

19 दिसंबर, 1927 की शहादतों के बाद काकोरी की फाँसियों के पश्चात चंद्रशेखर आज़ाद और भगतसिंह भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन की इसी चमकीली विरासत को लेकर आगे आए। भगतसिंह ने जब क्रांतिकारी पार्टी के साथ ‘समाजवादी’ शब्द जोड़ा, तो यह भारतीय राजनीति की उस समय की स्थिति में एक गुणात्मक परिवर्तन था। क्रांतिकारियों ने प्रजातंत्र से आगे बढ़कर समाजवाद के अपने बड़े लक्ष्य को घोषित किया और उसके लिए अपना बलिदान दिया। लेकिन देखो यह जानना चाहिए कि उस समय के क्रांतिकारी संग्राम में भगतसिंह की ज़मीन को तैयार करने वाले अशफाकउल्ला और रामप्रसाद बिस्मिल ही थे। अगर सर्वप्रथम कम्युनिस्ट सिद्धांतों की प्रविष्टि क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास में किसी स्थान पर मिलती है तो वह सिर्फ अशफाकउल्ला के यहां ही। अशफाकउल्ला सीधे-सीधे कम्युनिस्ट ग्रुप से संबोधित होते हैं और उनके विचारों के प्रति अपना जुड़ाव प्रदर्शित करते हैं। वे किसान और मजदूर की बात करते हैं, उनकी ताकत को रेखांकित करते हैं। वे किसानों और मजदूरों के बीच काम करने की बात कहते हैं, उन्हें संगठित करने और उनमें अहसास जगाने की बात करते हैं। और वे ये भी कहते हैं कि इन विचारों के लिए अगर उन्हें इश्टिराकी (कम्युनिस्ट) समझा जाए तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं। मुझसे हिंदी के एक बड़े कथाकार ने मेरी पुस्तक ‘अशफाकउल्ला और उनका युग’ पर चर्चा करते हुए कहा था कि इसका नाम ‘बिस्मिल और उनका युग’ भी हो सकता था। मैंने उत्तर दिया कि हुजूर, हो सकता था लेकिन बिस्मिल को अशफाकउल्ला से पृथक करके याद नहीं किया जा सकता और यह भी उतना ही सही है कि विचारों के मामले में अशफाकउल्ला बिस्मिल से कहीं आगे जाते हुए दिखाई पड़ते हैं। अपने समय में। उस युग में क्रांतिकारी विचारों को जो धार और तेवर अशफाकउल्ला ने दिये, वे बेजोड़ हैं। ‘साझी शहादत-साझी विरासत’ इस मायने में भी हमारे लिए प्रेरक और प्रासंगिक है। और इसे इसी तरह याद किया जाना और ग्रहण करना चाहिए।

भगतसिंह के युग में यह विरासत विचारों के मामले में खूब परवान चढ़ी। उन्होंने सीधे-सीधे समाजवाद और मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर समाज निर्माण की बात की। वे क्रांतिकारी आंदोलन को धर्म की भूलभुलैयाँ से निकालकर क्रांतिकारी चेतना के उच्च मुकाम पर नास्तिकता तक ले गए। अपने समय के किसी भी सवाल और विषय पर भगतसिंह ने बहुत मुखर होकर अपने विचार प्रकट किए, चाहे वह भाषा या लिपि का सवाल हो या फिर हो इन्कलाब को परिभाषित करने का। भगतसिंह के भीतर गजब की सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि थी, यद्यपि वे एक राजनीतिक संग्रामी थे। भगतसिंह ने क्रांतिकारी युद्ध को अपने समय में विचार की सर्वोच्च ऊँचाई प्रदान की और वे इंकलाबी संघर्ष के प्रतीक बने। फिर भी मैं मानता हूँ कि साण्डर्स वध और केंद्रीय असेम्बली में बम के धमाकों ने उन्हें देश का शीर्षस्थ क्रांतिकारी बना दिया। 23 मार्च 1931 को लाहौर जेल में फाँसी के बाद, अपने साथी राजगुरु और सुखदेव के साथ बलिदान देने के पश्चात वे क्रांतिकारी संग्राम को उस मुकाम पर छोड़ गए, जहाँ से उसे फिर आगे बढ़ाने की बड़ी ज़रूरत क्रांतिकारी शक्तियों के कंधे पर आ पड़ी थी। वह एक ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी थी, जिसे इतिहास ने उन्हें सौंपा था। लेकिन दुर्भाग्य की बात रही कि बाद के वर्षों में इंकलाब की वह लौ जो भगतसिंह के युग में चमकी, आगे चलकर मद्धिम हो गई। बयालीस का संग्राम आया, जिसे घोषित तो गाँधी और कांग्रेस ने किया था, जिसे हम 'भारत छोड़ो आंदोलन' का नाम देते हैं, लेकिन वह जिस तरह का बन गया तो उसे देखकर जेल के भीतर गाँधी ने उसके पितृत्व से ही इन्कार कर दिया था। वह आंदोलन अपने संपूर्ण चरित्र और चेतना में क्रांतिकारी हो गया जिसे भीतर से जगह-जगह क्रांतिकारी ही संचालित कर रहे थे। इसी आंदोलन में राजनारायण मिश्र लखनऊ जेल में भगतसिंह के आदर्शों को सामने रखकर फाँसी पर झूले। फुलेनाप्रसाद श्रीवास्तव महाराजगंज में नौ गोली खाकर शहीद हुए और लाल पद्मधरसिंह इलाहाबाद में मारे गए। उसके बाद बड़ी क्रांति 1946 में नौसेना की हुई। मैं तो कहता हूँ कि सबसे बड़ी जो विदेशी साम्राज्यवाद पर भयंकर और सर्वाधिक निर्णायक चोट थी, उससे उसकी चूलें हिल गईं। पर उस समय के तथाकथित बड़े नेताओं ने उस बगावत का बिल्कुल साथ नहीं दिया। यह संग्राम नेताजी सुभाष के आजाद हिंद फौज अभियान से प्रेरित था और उसका पूरक भी। यह पहला मौका था और ऐतिहासिक भी जब पूरी की पूरी 'शाही नौसेना' 'राष्ट्रीय नौसेना' में तब्दील हो गयी थी, लेकिन नेतागण थे कि उसे छूने को तैयार नहीं थे। उन्हें निकट आती सत्ता

दिखाई पड़ रही थी, इसलिए वे क्रांति से डर रहे थे। लियोनार्ड मोसले ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि जिस समय लार्ड माउण्टबेटन ने नेहरू और पटेल की नाक के नीचे सत्ता की टूटी हुई गाजर रखी तो वह उन्हें इतनी खूबसूरत मालूम हुई कि वे उसे बेखटके डकार गए। सत्ता के लिए इतना धिनौना गंगा नाच! इसके लिए हमारे नेताओं ने ब्रिटिश हुक्मरानों की सारी अपमानजनक शर्तें भी हंसते-हंसते स्वीकार कर लीं- उन्होंने ब्रिटिश कॉमनवेल्थ का सदस्य होना, नेताजी सुभाष को युद्ध अपराधी मानने के साथ ही अपनी धरती का बंटवारा भी स्वीकार कर लिया। उन्होंने यह भी मान लिया कि अंतिम वायसराय लार्ड माउण्टबेटन हमारे यानी स्वतंत्र भारत के पहले गवर्नर जनरल होंगे। अंग्रेजी हमारी संपर्क भाषा बनी रहेगी। 15 अगस्त 1947 की तारीख सही और वास्तविक अर्थों में आज़ादी नहीं सत्ता -परिवर्तन है। यह शहीदों और क्रांतिकारियों के बलिदान के साथ खुला और निर्लज्ज विश्वासघात था, यह उस समाजवादी भारत को बनाने के सपने के साथ बेशर्म गद्दारी थी जिसे अशफाकउल्ला, रामप्रसाद बिस्मिल, भगतसिंह और चंद्रशेखर आज़ाद ने अपनी कुर्बानी देकर खुली आँखों देखा था। जहाँ तक राष्ट्रीय एकता की बात है, यह हमें भगतसिंह के युग में इस क्रांतिकारी पार्टी के भीतर किस तरह दिखाई पड़ती है-भगतसिंह और सुखदेव पंजाब के थे, राजगुरु महाराष्ट्र के, जयदेव कपूर और शिव वर्मा उत्तर प्रदेश के। बटुकेश्वर दत्त और विजयकुमार सिन्हा को कानपुर, उत्तर प्रदेश का मान सकते हैं। और कोई राजस्थान का तो कोई राजपूताने का। देखा जाए तो वे सब संपूर्ण राष्ट्र कर प्रतिनिधित्व कर रहे थे। और विचारों में तो इतने प्रगतिशील थे वे कि उस पर हमें बहुत गर्व होता है। कहना होगा कि भगतसिंह जब समाजवाद के लिए संघर्ष कर रहे थे तब दूसरी ओर आज़ादी के लिए हो-हल्ला मचाने वाली कांग्रेस पूर्ण आज़ादी का प्रस्ताव तक अपनी मीटिंगों में पास नहीं कर पाई थी। फिर भी भगतसिंह का अगर एक व्यक्ति के रूप में हम मूल्यांकन करेंगे तो यह बड़ी भूल होगी हमारी। भगतसिंह भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का संपूर्ण विकास थे। लेकिन आज तो भगतसिंह को भी पगड़ी पहनाने का प्रयास किया जा रहा है। यह बताया जा रहा है कि वे बहादुर इसलिए थे कि सिख थे। जबकि उस क्रांतिकारी ने अपने शरीर से सिखी के सारे निशान मिटा दिये थे। उनके केश कटवाने के पीछे क्रांतिकारी चिंतन और दर्शन था। वे सही अर्थों में धर्मनिरपेक्ष थे। उन्हें उसी तरह याद किया जाना चाहिए। भगतसिंह ही नहीं, आज तो देश-भर में हमारे इन शहीदों को धर्म और जाति के नाम पर विभाजित किया जाने लगा है। अशफाक को मुसलमान तो बिस्मिल को

ब्राह्मण बताया जा रहा है। रोशनसिंह को ठाकुर जाति का शहीद बताकर उनके राष्ट्रीय शहीद होने का दर्जा घटाया जा रहा है। हमें इस जातिवादी धिनौनी राजनीति का मुकाबला करना है अपनी क्रांतिकारी चेतना से, अपने इतिहास की सच्ची और अमूल्य विरासत को सामने रखकर।

यह विरासत बहुत बड़ी और समृद्ध है। हम उसे पूरी तरह सामने लाने का निरंतर प्रयास कर रहे हैं। हमें सिर्फ भगतसिंह को ही याद नहीं करना है। हमें विजयकुमार सिन्हा को भी याद करना है, भगवतीचरण वोहरा को भी याद करना है, चंद्रशेखर आज़ाद को याद करना है, बटुकेश्वर दत्त को याद करना है। विजय दा को क्या हम भूल पाएंगे जो भगतसिंह जैसे बौद्धिक क्रांतिकारी उस समय थे जब पार्टी के प्रचार और अंतर्राष्ट्रीय संपर्कों का जिम्मा उन्हें सौंपा गया था। बाद को उन्होंने 'द न्यू मैन इन सोवियत यूनियन' और 'अण्डमान : एन इण्डियन वास्तील' जैसी कृतियों की रचना की। वे भगतसिंह जैसे ही बौद्धिक थे। स्वतंत्र भारत में हम उनका उपयोग आगे के क्रांतिकारी संग्राम के लिए नहीं कर पाए, न नए समाज के निर्माण के लिए। यह हमारी लापरवाही और अपराध है। सुनिये ज़रा उनकी कहानी। दो भाई थे- विजय दा भगतसिंह केस में और दूसरे सगे भाई राजकुमार सिन्हा काकोरी केस में। दोनों भाई जेल में। उनकी माँ का साहस देखिये जिसके दोनों नरनाहर बेटे सीखचों के भीतर जाकर भी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अथक लड़ाई लड़ रहे हों। विजय दा की एक बहन थी जो ब्रिटिश हुकूमत के अत्याचारों से तंग आकर पागल हो गई थी। कौन जाने उसकी व्यथा-कथा। मैंने अनेक बार विजय दा से उनकी उस बहन के बारे में जानना चाहा, पर वे हर बार टाल जाते थे। कहते थे कि उसकी चर्चा आने पर वे सामान्य नहीं रह पाते। विजय दा की माँ-यानी दो-दो बाघों को पैदा करने वाली। कौन जाने उस माँ ने कितना सहा, कितना झेला। क्या आप इसे क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास नहीं कहेंगे। बिस्मिल को जानने के लिए बिस्मिल की माँ को जानना होगा। बताऊँ आपको-बिस्मिल की फाँसी की तारीख तय हो गई थी। पिता मुरलीधर गोरखपुर बेटे से मिलने और उनकी लाश लेने चल दिए। माँ को साथ नहीं ले गए वे। सोचा-औरत हैं, रोएँगी। दुखी होंगी। पर जेल के दरवाजे पर पहुँचे तो कि बिस्मिल की माँ वहाँ पहले से मौजूद थीं। किसी को साथ लेकर पहले ही आ गईं। माँ भी भीतर जाकर जेल में बिस्मिल से मिलीं। और देखिए, कि माँ को देखकर बिस्मिल की आँखों में आँसू आ गए। माँ ने जो यह दृश्य देखा तो बिस्मिल को फौरन डाँटा। कहा- मैं तो समझती थी कि मेरा बेटा इतना बहादुर है कि उसके नाम से अंग्रेजी सरकार कांपती है। यदि

तुम्हें डरकर ही मरना था तो इस लाइन में क्यों आए। सुनकर बिस्मिल ने तुरंत आँसू पोंछते हुए कहा कि माँ, ये आँसू मौत के डर के नहीं हैं। जिस तरह आग के पास घी रखने से वह पिघले बिना नहीं रह सकता, उसी तरह तुम्हें देखकर मेरी आँखें भर आईं। अब ऐसी माँ कहां मिलेगी मुझे। विश्वास रखो माँ, तुम्हारा बेटा वीरोचित मौत मरेगा।

...और अगले दिन बिस्मिल हंसते हुए फाँसी पर चढ़ गए। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नाश हो, यह कहते हुए। लाश वहीं गोरखपुर में आर्यसमाजी रीति से अंतिम सरकार के लिए दी गई। अर्थात् जब गोरखपुर के उर्दू बाज़ार में पहुँची तो माँ ने उसे वहीं खड़ा करके एक संक्षिप्त सा भाषण दिया-मेरे पास एक बेटा था जो मैंने देश के लिए दे दिया। अब दूसरा बेटा सुशील और है और मैं इसे जयदेव कपूर के हाथों में सौंपती हूँ कि वे इसे भी अपने भाई बिस्मिल की तरह ही बहादुर बनाएँ। बेटे की लाश सामने हो और माँ देश के नाम एक वक्तव्य दे, अपने बेटे के बलिदान पर गर्व करे और दूसरे बेटे को भी उसी रास्ते पर भेजने का कलेजा निकालकर रख दे-तो इन चीज़ों ने रचा है हमारा क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास। यही साझी शहादत और साझी विरासत की गर्व करने लायक और चुनौतीपूर्ण परंपरा है, जिसे आज के दिन से आगे बढ़ाने की ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी हमारी है, हम सबकी है। आज चुनावों के दिन आते हैं तो शाहजहाँपुर शहर में, बिस्मिल और अशफाकउल्ला के शहर में 'रामप्रसाद बिस्मिल द्वार' और 'अशफाकउल्ला द्वार' का निर्माण हो जाता है, सारे दल बिस्मिल और अशफाकउल्ला का नाम वोट पाने के लिए वहाँ उनका नाम लेते हैं, लेकिन वही शहर बिस्मिल की माँ को भूखों मरने से नहीं बचा पाया। हमें शर्म के साथ कहना पड़ता है कि उस माँ को ज़िंदगी के बाद के दिनों में बिस्मिल का जन्म जिस घर में हुआ था, उसे भी अपनी गुजर-बसर के लिए बेचने को विवश होना पड़ा। हम कितने ही द्वार बना लें, लेकिन ये इतिहास दर्ज नहीं होगा।

मैंने शुरू में बटुकेश्वर दत्त का जिक्र किया जो पटना की सड़कों पर अपनी जीविका के लिए एक पुरानी साइकिल पर थोड़े आटे और लकड़ियों का जुगाड़ करके रोज़ लाते थे। पर यहाँ कितनों ने देखा उन्हें, किसने उन्हें सहारा दिया। ये बातें भी क्रांतिकारी चेतना की हैं। हमारी उसी लड़ाई का अंग हैं। हमने चंद्रशेखर आज़ाद की माँ को भूखों मर जाने दिया। एक शिकायत मुझे अपने प्रगतिशील मित्रों से है, वह मैं करना चाहूँगा। मुझे खुशी है कि पटना में भगतसिंह जन्मशताब्दी समिति बनी है। बड़े स्तर पर बनी है। हमारे उत्तर प्रदेश में ऐसी कोई समिति नहीं बनी। मेरे प्रयास करने, पत्र लिखने से उत्तर

प्रदेश की सरकार ने सरकारी स्तर पर आज़ाद की जन्मशताब्दी मनाए जाने का एक सर्कुलर जारी किया, पर उससे कितना और कैसा हो पाएगा आज़ाद का स्मरण, इसे हम जानते हैं। सरकारी आयोजनों में क्रांतिकारियों को याद नहीं किया जा सकता। सिर्फ रस्मअदायगी होती है। केवल पूजा-आरती। हाँ, मुझे कहना यह है कि आप सब लोग भगतसिंह को याद करिए। पर आज़ाद को भूलिये मत। क्या आज़ाद को सिर्फ इसलिए तो नहीं भुलाया जा रहा है कि उनकी एक बहुप्रचलित तस्वीर है जिसमें उनके शरीर पर जनेऊ दिख रहा है। पर इससे आज़ाद गैर-प्रगतिशील नहीं हो जाते। इस तस्वीर की एक कहानी है। आज़ाद एक बार कसरत कर रहे थे। तभी उनके क्रांतिकारी साथी मास्टर रुद्रनारायण जो चित्रकार, मूर्तिकार और फोटोग्राफर भी थे, चुपके से कैमरा लेकर सामने आ गए। आज़ाद मना करने लगे, लेकिन जब मास्टर साहब नहीं माने तो आज़ाद अपनी मूँछ ठीक करने लगे के तभी क्लिक हो गया। इस तरह खिंची यह तस्वीर। हमें यह भी जानना और समझना चाहिए कि आज़ाद एक रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार में जन्मे। फिर उसके बाद उनकी शिक्षा बनारस की संस्कृत पाठशाला में हुई, जहाँ गरीब ब्राह्मणों के बच्चे बगैर फीस के पढ़ते थे। यहीं से वे असहयोग आंदोलन की धारा में बहकर क्रांतिकारी आंदोलन की ओर मुड़े और आगे चलकर क्रांतिकारी दल के सेनापति तक बने। तो यह विकास हुआ आज़ाद का। उनके जीवन को समझने के लिए यह सब देखने की बड़ी जरूरत है। क्या इसे खास तौर पर रेखांकित नहीं किया जाना चाहिए कि प्रगतिशीलता में भगतसिंह के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने में आज़ाद ने कभी कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई, बल्कि संपूर्ण क्रांतिकारी पार्टी का वे कुशल नेतृत्व करते रहे जिसने अपने समय में विचार की भी बड़ी ऊँचाइयों को छुआ और अपनी एक संक्षिप्त मुलाकात में आज़ाद ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को भी क्रांतिकारिता और फासिज़्म का अंतर कायदे से बताया था। नेहरू ने अपनी आत्मकथा में इस प्रसंग का जिक्र किया, लेकिन पक्षपातपूर्ण ढंग से। उन्होंने आज़ाद को वहाँ फासिस्ट कहा। आज़ाद की क्रांतिकारी चेतना को छोटा करके देखने की नेहरू की यह कोशिश क्रांतिकारी संग्राम के प्रति नेहरू की मनोवृत्ति को ही उजागर करती है। पर आजाद इससे छोटे नहीं हो जाते। आजाद ने नेहरू से स्पष्ट कहा था कि आगे आने वाला संघर्ष क्रांतिकारी संघर्ष होगा, पर वह आतंकवाद नहीं होगा। आज़ाद आतंक और क्रांति का फर्क जानते थे।... तो इस तरह यदि हम भगतसिंह के साथ आज़ाद को याद नहीं करेंगे, उन्हें भुला देंगे तो यह आधा-अधूरा याद करना होगा भगतसिंह को। क्या क्रांतिकारी आंदोलन का मस्तिष्क कहे जाने वाले

कामरेड भगवतीचरण वोहरा भगतसिंह के अभिन्न नहीं थे। क्या भगवती भाई को क्रांतिकारी संघर्ष का मस्तिष्क नहीं माना गया। क्या गाँधी के 'कल्ट ऑफ द बम' का तर्कपूर्ण उत्तर 'बम का दर्शन' लिखकर भगवती भाई ने ही नहीं दिया था जो क्रांतिकारियों के दस्तावेजों में सर्वाधिक महत्व का है। पर हमने तो आज़ाद को ही नहीं, भगवती भाई जैसे वैचारिक चेतना से संपन्न क्रांतिकारी को भी भुला दिया।

हमें समग्रता में ही चीजों को देखना होगा। हमें तब की क्रांतिकारी चेतना को भी भगतसिंह से भी आगे जाकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में हुए आज़ाद हिंद फौज अभियान और 1946 की नौसेना की बगावत तक दृष्टि डालनी होगी। और अंत में हम क्रांतिकारी आंदोलन के प्रति उसके इतिहास के संबंध में सिर्फ इतना ही कहना चाहेंगे कि वह लगभग एक सदी तक अनवरत लड़ा गया समझौताविहीन संग्राम था, जिसमें असंख्य कुर्बानियाँ दी गईं। 1921 में गाँधी आए भी तो भी उससे पहले 63 साल तक अकेले क्रांतिकारी कहे जाने वाले लोग ही देश की आज़ादी के लिए संघर्षरत रहकर अपना बलिदान देते रहे तथा इक्कीस के बाद भी उनका संग्राम अनवरत रूप से जारी रहा।

आज भूमण्डलीकरण और बाज़ारवाद के बनैले समय में मुझे लगता है कि हमें उसी क्रांतिकारी चेतना की विरासत का झंडा उठाकर नए युद्ध के लिए निकल पड़ना है। क्रांतिकारियों के सपनों के शोषणमुक्त समाज-निर्माण का लक्ष्य अभी भी ठहरा पड़ा है। जानने योग्य यह भी है कि यह काम जनता के निकट जाकर ही संपन्न किया जा सकता है, बंद कमरों में बैठकर बौद्धिक विमर्शों के ज़रिए नहीं। यह कम आश्चर्यजनक नहीं है कि भगतसिंह और आज़ाद जैसे क्रांतिकारी नायक लोक के सर्वाधिक निकट थे। इन क्रांतिकारियों पर सर्वाधिक लोकगीत रचे और गाए गए। आज़ादी मिलने के तुरंत बाद और फिर दूर तक उन्हें जनसाधारण ने ही अपनी स्मृति में जीवित बनाए रखा। मुझे लगता है कि मैं क्रांतिकारी संग्राम और क्रांतिकारियों पर बहुत लंबी बात आपसे कर चुका हूँ।

अब मैं अपने प्रिय कवि शलभ श्रीराम सिंह की कुछ पंक्तियाँ आपको समर्पित कर रहा हूँ जो काकोरी के इन्हीं क्रांतिकारियों की साझी शहादत और साझी विरासत का बखान करती हैं-

हिंदोस्ताँ की शान हैं अशफाक व बिस्मिल,
दो जिस्म एक जान हैं अशफाक व बिस्मिल।
अशफाक व बिस्मिल हैं मुसलमान में हिंदू,
हिंदू में मुसलमान हैं अशफाक व बिस्मिल।

बिदेसिया यानी सामूहिक त्रासदी की कलात्मक अभिव्यक्ति

■ कुमार नरेंद्र सिंह

भोजपुरी साहित्य के शेक्सपियर भिखारी ठाकुर का बिदेसिया नाटक, सच कहें तो भोजपुरी लोक जीवन का जीवंत दस्तावेज़ है, भोजपुरियों के दिल की धड़कन है। बिदेसिया महज नाटक की एक किताब भर नहीं है बल्कि भोजपुरिया अस्मिता की पहचान है, सृजनशीलता की प्रतीक है। शहरीकरण और औद्योगीकरण की आंधी में उजड़ते भोजपुरिया परिवार और कोलकाता, असम के चटकलों में काम की तलाश में पहुंचे भोजपुरिया मज़दूरों की जिंदगी की दारुण दास्तान है बिदेसिया।

नृत्य-नाट्य की बिदेसिया शैली भोजपुरी लोक-संस्कृति की अनोखी उपलब्धि तो है ही, लोक कलाकार भिखारी ठाकुर के कवित्तमय और कलात्मक सौंदर्य-बोध की विशिष्ट पहचान भी है। वास्तव में बिदेसिया नाटक वैयक्तिक प्रतिभा और संस्कृति के अंतर्गल की उपज है। यही कारण है कि शायद ही कोई ऐसा खांटी भोजपुरिया मिले जो बिदेसिया के अभाव में भोजपुरी संस्कृति की कल्पना भी कर सके। बिदेसिया शैली की अपार लोकप्रियता का सबसे महत्वपूर्ण कारण इसका परंपरा-स्युत होना ही है। भोजपुरी साहित्य और संस्कृति मूल रूप से मौखिक परंपरा पर आधारित रही है और गेयता इसका स्वभाव रहा है। भोजपुरी के प्रसार में उसकी गेयता, गीतों की बड़ी प्रधानता रही है। आज मॉरीशस, सूरीनाम, ट्रिनिडाड, फिजी, हॉलैंड, साउथ अफ्रीका आदि देशों में अगर भोजपुरी जिंदा है तो बहुत हद तक उसकी गेयता ही है। अमिताभ घोष ने अपनी पुस्तक सी ऑफ दि पॉपीज में इस तथ्य का उल्लेख विस्तार से किया है। वह कहते हैं कि गिरमिटिया मज़दूरों में अन्य भाषा भाषियों की भी अच्छी संख्या थी लेकिन जब उनके जहाज उन देशों के समुद्र तटों पर उतरे तो सबकी भाषा भोजपुरी हो चुकी थी। इसका कारण यह है कि भोजपुरी संस्कृति में सामूहिक गान की जबरदस्त परंपरा रही है। दुनिया के सबसे बड़े कोरस यानी सामूहिक गान की शैली को भोजपुरियों ने ही संजो रखा है - होली और चैता के रूप में। अपने गीतों की बढौलत भोजपुरी अन्य भाषाओं की रानी बन बैठी। ऐसे में यह अन्यथा नहीं कि ठाकुर जी के नाटकों में परंपरा और गेयता का साहचर्य देखने को मिलता है। यही कारण है कि भिखारी ठाकुर के नाटकों के पात्र बहुधा गीतों के माध्यम से ही अपने मनोभावों का इजहार करते हैं।

भोजपुरी अगर लोक परंपरा से विमुख नहीं हुई तो इसका कारण ऐतिहासिक है। अपनी तमाम लोकप्रियता और भाषा के रूप में अपनी उपादेयता साबित कर चुकने के बावजूद अवधी, ब्रज और मैथिली की तरह भोजपुरी को हिंदी क्षेत्र की सांस्कृतिक को वहन कर सकने वाली भाषा के रूप में प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी। इसका एक कारण तो यह है कि इतिहास के किसी दौर में उसे राजाश्रय प्राप्त नहीं हो सका और दूसरा कि भोजपुरी जनता की सांस्कृतिक चेतना भी कई ऐतिहासिक और अनैतिहासिक कारणों से विकसित नहीं

हुई। राष्ट्र की मुख्य धारा में भरपूर सहयोग करते रहने के बावजूद भोजपुरी के विकास के प्रति सरकारी रवैया नकारात्मक ही रहा।

इस सम्यक उपेक्षा का एक संतोषजनक परिणाम भी निकला और वह यह कि भोजपुरी भाषा और संस्कृति लोकधारा की सहजता से विमुख नहीं हो पाई। भावपथ की यह सरसता ही शैली के स्तर पर गेयता को जन्म देती है। लोक चेतना के प्रतिनिधि कलाकार भिखारी ठाकुर को यह समझने में कोई भूल नहीं हुई कि सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा और उसका विकास चिर-परिचित परंपरा के स्वीकार में ही निहित है। परंपरा से भिखारी ठाकुर का आत्यंतिक जुड़ाव ही उन्हें विविध शैलियों के प्रयोग के लिए उकसाता रहा। यह आकस्मिक नहीं था उनकी रचनाओं में सोरठी, कजरी, झूमर, पूर्वी तथा आल्हा छंद का अनुकरण मिलता है, नाटक के गीतों में वे पारंपरिक तर्जों को ही तरजीह देते हैं। परंतु अनुकरण तो अनुकरण ही है। कलाकार के जीवन में यही वह बिंदु है जहां उसकी समस्त आंतरिक संभावनाएं किसी अज्ञात बल से एकजुट होकर सर्वथा नवीन का निर्माण करती है। कहना न होगा कि बिदेसिया इसी सर्वथा नवीन की शोध-प्रक्रिया की अन्यतम उपलब्धि है। अन्यथा न होगा, अगर कहें कि बिदेसिया भिखारी ठाकुर के समग्र नाट्य-चिंतन की परमाभिव्यक्ति है।

भिखारी ठाकुर ने बिदेसिया शैली का प्रयोग सामूहिक त्रासदी की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए किया था। यह सामूहिक त्रासदी औद्योगीकरण की कोख से पैदा हुई थी जिसने पुरुबियों का सामाजिक ताना-बाना छिन्न-भिन्न करके रख दिया। इतिहास गवाह है कि भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की स्थापना के साथ ही भोजपुरी क्षेत्रों के मजदूरों का पलायन कोलकाता, असम ही नहीं वरन फिजी, मॉरीशस, ट्रिनिडाड, सूरीनाम आदि अन्य उपनिवेशों में हुआ। अंग्रेजी शासन की सबसे गहरी मार भोजपुरियों को ही सहनी पड़ी थी। 1857 की क्रांति में भोजपुरियों ने जगदीशपुर के जमींदार बाबू कुंअर सिंह की अगुआई में अंग्रेजों को नाकों चने चबवा दिए थे। देश के अंदर भोजपुरियों ने कोलकाता को ही अपना आशियाना बनाया। सबसे ज्यादा भोजपुरिया वहीं पहुंचे।

भोजपुरी प्रदेशों के लिए कोलकाता महज एक शहर का नाम नहीं है बल्कि बिरह का एक ऐसा सैलाब है जिसमें हजारों-हजार आंखों का काजल बह चुका है। इन प्रदेशों के नौजवान रोजगार और खुशी की तलाश में कोलकाता और असम के चटकलों में शरण पाते थे। बहुधा वे लौटकर नहीं आते थे क्योंकि लौटने लायक उनकी स्थिति ही नहीं बन पाती थी और अगर लौटते भी थे तो खुशहाली के बदले तंगहाली लेकर। अकारण नहीं कि भोजपुरी प्रदेशों की औरतों के लिए कोलकाता किसी सौत से कम नहीं था। उत्तर प्रदेश और बिहार के गांवों की औरतों में आज भी यह अंधविश्वास व्याप्त है कि बंगाल और असम की औरतें उनके मर्दों को जादू से तोता

और भेड़ा बनाकर रख लेती हैं। भिखारी ठाकुर की निम्नलिखित पंक्तियों में इस विश्वास की ललिताभिव्यक्ति देखते ही बनती है-

मोर पिया मत जा हो पुरुबवा

पुरुब देश में टोना बेस बा, पानी बड़ा कमजोर

मोर पिया मत जा हो पुरुबवा।

इसी तरह एक और गीत में एक नारी अपने पति को पुरुब में नौकरी करने जाने नहीं देना चाहती। जब पति कहता है कि वह पुरुब में नौकरी करने जाएगा और वहां से वह उसके लिए साड़ी और सिकड़ी (गले का चैन) ले आएगा तो सुनिए कि उसकी पत्नी क्या कहती है

अगिया लागहू पिया तोहरी नोकरिया, बजर पड़हूं

पिया साड़ी ओ सिकड़िया, बजर पड़हूं।

(आपकी नौकरी में आग लगे और साड़ी तथा सिकड़ी को वजर पड़े।)

औद्योगीकरण की आंधी में उड़कर पुरुष के प्रदेश जाने पर नारियों को ही ज़्यादा पीड़ा होती थी। अकारण नहीं कि भोजपुरी गीतों में औद्योगीकरण के खिलाफ भी आक्रोश दिखाई देता है। दिलचस्प है कि नारियों ने ही औद्योगीकरण की मुखालफत सबसे ज़्यादा की है। देखिए एक बानगी

कलवा के पानी पी के भइलन पियवा करिया

कल में डाढ़ा लागो ना.....अर्थात् नलके का पानी पीकर मेरे पिया काले हो गए हैं इसलिए यह कल (पुरब के लोग नलके के पानी को कल का पानी ही कहते हैं।) ही नष्ट हो जाए। अगर कहा जाए कि औद्योगीकरण के खिलाफ पहला स्वर नारियों का ही उभरा तो कोई गलत नहीं होगा।

भिखारी ठाकुर ने इन हालात को अपनी लेखनी से स्वर दिया और इसका दस्तावेज बना बिदेसिया। भिखारी ठाकुर ने अपने प्रतिनिधिक नाटक बिदेसिया में नाटक की नायिका प्यारी सुंदरी के माध्यम से उन तमाम विरहिणी नारियों की मनोदशा का वर्णन किया है जिनके कंत रोजी-रोटी की तलाश में पुरुब में कमाने गए हैं। इसके साथ ही ठाकुर जी ने अन्य पात्रों के संवाद के माध्यम से उन नारियों के और परिवेश के प्रति समाज के नज़रिए को भी उकेरा है।

प्यारी सुंदरी का पति गवना करा के उसे अपने घर ले आता है और स्वयं एक दिन चुपके से नौकरी की तलाश में कलकत्ता (अब कोलकाता) चला जाता है। वहां के चटकल में उसे नौकरी मिल जाती है। कोलकाता में रहते हुए उसकी मुलाकात एक औरत से होती है। धीरे-धीरे यह मुलाकात मोहब्बत में बदल जाती है और दोनों पति-पत्नी बनकर रहने लगते हैं। प्यारी का पति प्यारी को एकदम भूल जाता है। अब यही औरत उसकी जिंदगी है। प्यारी का पति तो उसे भूल जाता है लेकिन प्यारी अपने पति को कैसे भूल जाए। उसका तो सब कुछ उसका पति ही है। अनेक प्रलोभनों को ठुकरा कर वह अपने पति का 12 बरसों तक इंतज़ार करती है लेकिन उसका पति नहीं लौटता है। प्यारी की स्थिति है कि क्या करे, कहां जाए। वह परेशान है कि अपने मन की व्यथा अपने पति तक वह पहुंचाए कैसे। अपने पति का पता-ठिकाना भी तो नहीं जानती वह। तिल-तिल जलना ही उसकी नियति बन गई है। विरहिणी नारी प्यारी की मनोव्यथा का क्या मार्मिक चित्रण भिखारी ठाकुर ने किया है-

अमवा मोजरी गइले, लगले टिकोरवा

दिन पर दिन पियरात रे बिदेसिया।

एक दिन बही जइहें जुलुमा बेयरिया

डार-पात जइहें भहराई रे बिदेसिया।

(आम में मंजर लग चुके हैं और अब तो टिकोले भी लग चुके हैं। डर है कि एक दिन जुल्मी बयार बह जाएगी और डार-पात सहित पेड़ गिर जाएगा।)

एक विरहिणी नारी की मनोदशा का इतना सूक्ष्म चित्रांकन विरले कवियों, लेखकों ने किया है। पति-पत्नी के संबंधों में फिसलन की आशंका का इतना लालित्यपूर्ण बयान अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है। बहरहाल, प्यारी सुंदरी के इस मनोभाव का एहसास उसके पति बिदेसिया को हो तब न। छह महीने के लिए ही तो कहकर गया था बिदेसिया परंतु 12 वर्ष बाद भी नहीं लौटा। इसी मनदशा में प्यारी की मुलाकात बटोही से होती है। मालूम हो कि बटोही की भूमिका भिखारी ठाकुर स्वयं करते थे। जब प्यारी को जानकारी होती है कि बटोही कोलकाता जा रहा है तो वह उससे मुलाकात करती है और अर्ज करती है कि वह उसका संदेशा उसके पति बिदेसिया तक पहुंचा दे। बटोही प्यारी से उसके पति का नाम-पता पूछता है परंतु प्यारी अपने पति का नाम बताने के बदले उसकी पहचान बताती है और पता तो वह जानती ही नहीं। वह बटोही से कहती है -

हमरो बलमू जी के बड़े-बड़े अंखिया

चोखे-चोखे हउवे नैनाकोर रे बटोहिया।

ओठवा त हवे जइसे कतरल पनवां

नकवा सुगनवा के ठोर रे बिदेसिया।

बटोही कोलकाता पहुंचता है और प्यारी के बताए पहचान का आदमी ढूंढने में जुट जाता है। अंत में वह बिदेसिया को ढूंढने में सफल हो जाता है। जब बटोही देखता है कि बिदेसिया किसी और औरत के साथ रह रहा है तो वह उसे काफी फटकार लगाता है और समझा-बुझाकर तथा प्यारी की व्यथा कथा बयान कर उसकी गलती का एहसास कराता है। अंत में बिदेसिया बटोही की बात मानकर अपने गांव वापस लौटने की तैयारी करने लगता है, जो उसकी दूसरी पत्नी को नागवार गुजरता है और वह बिदेसिया पर दबाव डालती है कि वह उसे छोड़कर न जाए लेकिन बिदेसिया नहीं मानता है और अपने घर अपनी पत्नी प्यारी सुंदरी के पास वापस लौट आता है। कथा यहीं समाप्त नहीं होती, वह आगे बढ़ती है। होता यह है कि कोलकाता वाली बिदेसिया की उप पत्नी बिदेसिया को ढूंढते-ढूंढते उसके गांव पहुंच जाती है। कहानी कई नाटकीय परिस्थितियों से गुजरती है और दोनों पत्नियों द्वारा बिदेसिया को स्वीकार कर लिए जाने के साथ खत्म हो जाती है। सभी खुशीपूर्वक एक साथ रहने लगते हैं।

बिदेसिया नाटक की कथा-वस्तु देखकर तुरंत ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भिखारी ठाकुर भोजपुरिया क्षेत्रीय परंपरा से गहरे स्तर पर जुड़े हैं। नाटक के एक दृश्य में जब बटोही प्यारी सुंदरी से उसके पति का नाम पूछता है तो प्यारी अपने पति का नाम नहीं बताकर उसकी पहचान बताती है। ऐसा नहीं है कि प्यारी अपने पति का नाम नहीं जानती परंतु यदि ठाकुर जी प्यारी के मुंह से उसके पति

का नाम कहलवाते तो यह क्षेत्रीय परंपरा से अलग होता। कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्तर भारत के ग्रामीण इलाकों में आज भी महिलाएं अपने पति का नाम लेने में शर्माती हैं। ज़ाहिर है कि ऐसे में नाटक का दृश्य लोगों की आंखों में खटकता और तब संभव है कि इसका असर नाटक की लोकप्रियता पर भी होता।

सही मायने में बिदेसिया लोक-नाट्य परंपरा का वायवीय विकास है। नौटंकी की तरह बिदेसिया में भी पात्रों का कथन-उपकथन मूल रूप से काव्य रूप में ही बयान होता है। दरअसल संपूर्ण भोजपुरी साहित्य ही काव्य में है। भिखारी ठाकुर इसी परंपरा को और समृद्ध कर आगे बढ़ाने का काम करते हैं। संस्कृत नाट्य परंपरा की तर्ज पर बिदेसिया में मंगलाचरण का प्रावधान है, जैसे ठाकुर जी के सभी नाटकों में मंगलाचरण का प्रयोग है। सूत्रधार की आवश्यक उपस्थिति भी संस्कृत की रंगमंच परंपरा का ही विस्तार है। बिदेसिया नाटक में सूत्रधार की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि नाटक के कथा-प्रवाह में वह उत्प्रेरक का काम करता है।

बिदेसिया नाटक में पात्रों के विशिष्टीकरण का अभाव होता है। क्षण भर पहले बिदेसिया, बटोहिया की भूमिका निभाने वाला दूसरे ही क्षण मंच पर ढोलक या खंजड़ी बजाते नज़र आता है। इसी तरह चरित्र के अनुरूप पात्रों का नामकरण बिदेसिया नाटक की अपनी मौलिक विशेषता है। भिखारी ठाकुर के अन्य नाटकों में भी ऐसा ही देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए पात्रों बिदेसिया, बटोहिया आदि नाम उनके गुण-कर्म के अनुसार ही दिए गए हैं। जैसे उनके नाटकों में पात्रों का नामकरण वर्गीय स्थिति के अनुसार भी किए गए हैं।

बिदेसिया नाटक को बहुधा हम सांसारिक लीला के रूप में देखते हैं, देखते हैं कि इस नाटक में तत्कालीन भोजपुरिया समाज का उत्स उभरता है। लेकिन सामाजिक पक्ष के अलावा बिदेसिया का आध्यात्मिक पक्ष भी है। जीव और माया के बीच स्थित आध्यात्मिक संबंधों को दर्शाने का प्रयास भी बिदेसिया में दिखाई देता है। भिखारी ठाकुर ने स्वयं इसके आध्यात्मिक पक्ष का स्पष्ट उल्लेख किया है। भिखारी ठाकुर कहते हैं बिदेसिया जीव का प्रतीक है जो दुनिया में उद्देश्य हासिल करने के लिए भटक रहा है और यह उद्देश्य है ईश्वर से एकाकार हो जाना। बिदेसिया की दूसरी पत्नी जिसे भिखारी ठाकुर ने पतुरिया कहा है, माया की प्रतीक है। जीव यानी बिदेसिया उसमें उलझकर अपना उद्देश्य भूल जाता है। बटोरी धर्म या संत का प्रतीक है जो बिदेसिया को उसका उद्देश्य बताकर सीधी राह पर लाता है। और प्यारी... प्यारी सुंदरी तो स्वयं ईश्वर की प्रतीक है।

भिखारी ठाकुर ने अपने बिदेसिया नाटक में जीव, ईश्वर और माया का एक अनोखा रूपक तैयार किया है। भारतीय वाङ्मय में यूँ तो ईश्वर की कल्पना अर्धनारीश्वर के रूप में ज़रूर की गई है लेकिन जीव और माया के संबंध में किसी भी संत, कवि ने ईश्वर की कल्पना नारी रूप में नहीं की है। जैसे भी बिदेसिया नाटक का मूल स्वर त्रासदी और करुणा है और कहने की आवश्यकता नहीं कि इनकी प्रतिमूर्ति नारी ही हो सकती है। नाटक के ज़रिये ठाकुर जी ने परदेश में रहने वालों को घर लौटने की सलाह भी दी है।

इतनी समृद्ध और रचनात्मक शैली के बावजूद अब बिदेसिया नाटक अपना वजूद खोता जा रहा है। आनन-फानन में 15-20

हजार लोगों की भीड़ जुटा लेना जिस नाटक का अनिवार्य गुण रहा हो, जो नाटक दर्शकों को घंटों बैठकर देखने को मजबूर करने की हैसियत रखता हो, वह आज लोगों से दूर होता जा रहा है। कहने का अर्थ कि बिदेसिया नाटक की लोकप्रियता कम होती जा रही है। इसकी लोकप्रियता में कमी आने का सबसे बड़ा कारण यह रहा कि भिखारी ठाकुर की मृत्यु के बाद उनकी मंडली के अन्य सदस्यों में न तो उतनी प्रतिभा थी और न उत्साह वे नाटक को समीचीन बनाए रखते। समय के साथ बिदेसिया में आवश्यक परिवर्तन नहीं किया जा सका। जब तक भिखारी ठाकुर ज़िंदा थे, अपने नाटकों में आवश्यक परिवर्तन कर उसे प्रासंगिक बनाए रखते थे, अपने नाटकों को सुधारने, संवारने का काम करते रहे थे। उनके नहीं रहने के बाद सार्थक परिवर्तन की यह प्रक्रिया बंद हो गई, लिहाजा दूसरे जगहों की बात कौन करे, स्वयं भोजपुरी प्रदेशों में भी बिदेसिया की न तो पहले वाली ठाठ बची और न मांग। ले-देकर शादी-व्याह के अवसरों पर नाच तक सिमट कर रह गया है बिदेसिया।

बहरहाल, पिछले कतिपय वर्षों में रंगकर्मियों का ध्यान बिदेसिया शैली की तरफ आकृष्ट हुआ है। सतीश आनंद और संजय उपाध्याय जैसे रंगकर्मी बहुत उत्साह से इस शैली के विकास और प्रचार के लिए काम कर रहे हैं। सतीश आनंद ने बिदेसिया शैली पर आधारित अमली नाटक का मंचन न सिर्फ भारत में बल्कि विदेशों में भी किया और हर जगह वाहवाही लूटी। संजय उपाध्याय तो मूल बिदेसिया का ही मंचन करते हैं। यह अलग बात है कि प्रयोग के नाम पर वह कई बार बिदेसिया की भोंडी प्रस्तुति करते हैं लेकिन इसे बाज़ारवाद के दबाव के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। सच तो यह है कि हाल के वर्षों में बिहार की लगभग सभी नाटक-मंडलियों ने बिदेसिया या उसकी शैली पर आधारित नाटक का मंचन किया है।

हिंदुस्तान के सारे रंगकर्मी मुक्त कंठ से बिदेसिया की प्रशंसा कर चुके हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन बिदेसिया नाटक के एक बड़े प्रशंसकों में थे। बिदेसिया नाटक को देखकर ही उन्होंने भिखारी ठाकुर को एक अनगढ़ हीरा कहा था। वह मानते थे कि भिखारी ठाकुर की कृतियों का अगर सही आकलन नहीं हो सका तो इसके लिए पढ़ुआ (पढ़े-लिखे) लोग ही ज़िम्मेदार हैं। यदि भिखारी ठाकुर को पढ़े-लिखों का सहयोग मिला होता तो उनकी प्रतिभा में और भी निखार आता। भोजपुरी भाषा में बिदेसिया नाम की एक फिल्म भी बन चुकी है। यह अलग बात है कि फिल्म का कथानक नाटक से बिलकुल अलग है। यदि फिल्म में भिखारी ठाकुर की उपस्थिति और उनके द्वारा गाए गए एक गीत को छोड़ दिया जाए तो फिल्म में ऐसा कुछ नहीं है, जिसे बिदेसिया नाटक से जोड़कर देखा जाए। इसके बावजूद इतना तो मानना ही पड़ेगा कि फिल्म का निर्माण नाटक की लोकप्रियता से ही उत्प्रेरित था और उसी लोकप्रियता को भुनाने का प्रयास भी था। संक्षेप में कहें तो बिदेसिया शब्द नहीं, यथार्थ है, एक ऐसा यथार्थ जिसमें माटी की गंध है, फूलों की महक है और जीवन की आलोचना है। शृंगार और वियोग की चादर पर करुणा का रंग बिखरने तथा सामूहिक त्रासदी की कलात्मक अभिव्यक्ति का नाम है बिदेसिया।

साभार : <http://jagadishwarchaturvedi.blogspot.com/>

लंबी होती जिंदगी, सीमित होता धर्म

■ सुभाष गाताडे

समाज की औसत उम्र बढ़ने से क्या धर्म के प्रति लोगों के रुझान या धार्मिक कार्यक्रमों में शामिल होने की उनकी इच्छा पर भी कोई असर पड़ता है? यूनिवर्सिटी ऑफ ईस्ट आंग्लिया और ब्रिटेन की यूनिवर्सिटी ऑफ सेंट एंड्रयूज ने मिल कर इस मामले में एक दिलचस्प अध्ययन किया है। अध्ययन में लोगों की बढ़ती उम्र और धार्मिकता के बीच के रिश्ते को जानने की कोशिश की गई है। इसके लिए उन्होंने अर्थशास्त्र के लागत और मुनाफे के मॉडल का प्रयोग किया।

यानी यह जानने की कोशिश की कि श्रद्धालुओं को जब किसी किस्म के फायदे की गुंजाइश न दिख रही हो, तब भी क्या वे धर्म के प्रति अपने जुड़ाव का प्रदर्शन करते हैं? अध्ययन से पता चला कि समाज की औसत आयु बढ़ने के साथ धार्मिक गतिविधियों में भाग लेने का लोगों का निर्णय भी लंबा खिंचता जाता है। यानी यदि वे निश्चित हैं या तुरंत मर जाने का भय उनके मन में नहीं है, तो कोई धार्मिक कार्य संपन्न करने में भी वे कोई हड़बड़ी नहीं दिखाते। इसलिए इस रिसर्च टीम की एक सदस्य गीतांजलि सेल्वारल्लम ने धार्मिक संगठनों को सलाह दी है कि यदि नई पीढ़ी को अपनी तरफ आकर्षित करना है तो उन्हें धार्मिक कार्यक्रमों से जुड़ने के फायदे बताने होंगे।

हाल के वर्षों में चर्च की साप्ताहिक प्रार्थना सभाओं में लोगों की उपस्थिति तेजी से कम होने लगी है। कई चर्च तो वीरान हो चुके हैं। अमेरिका की नॉर्थ वेस्टर्न यूनिवर्सिटी ने पश्चिमी देशों में नजर आ रहे इस ट्रेंड का अलग से एक अध्ययन किया है। उस अध्ययन में तो यहां तक अनुमान लगा लिया गया है कि वह दिन दूर नहीं जब धर्म का नामोनिशान ही मिट जाएगा। यूनिवर्सिटी की रिसर्च टीम ने इसे समझने के लिए एक गणितीय मॉडल का इस्तेमाल किया। मॉडल का मकसद यह जानना था कि अलग-अलग धर्म को मानने वालों में कौन सी सामाजिक प्रेरणाएं जुड़ाव का कारण बनती हैं। इस टीम के एक सदस्य डैनियल अब्राम्स ने वर्ष 2003 में इसी मॉडल का प्रयोग करके कम बोली जाने वाली भाषाओं के विलुप्त हो जाने या उनके कम होते इस्तेमाल का सांख्यिकीय आधार तलाशने की कोशिश की थी। इस आधार पर किए अपने उस अध्ययन में डैनियल ने यह बताने का प्रयास किया था कि भविष्य में कौन-कौन सी भाषा टिकी रहेगी और कौन-कौन सी विलुप्त हो जाएंगी। उन्होंने बताया कि यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस विशिष्ट भाषा बोलने की 'उपयोगिता'

कितनी है। डैनियल की टीम ने इसके लिए विभिन्न देशों की जनगणना का विवरण हासिल किया जिसमें धार्मिक जुड़ावों का भी उल्लेख था।

'रिसर्च कॉर्पोरेशन फॉर साइंस अडवांसमेंट' के डॉ. रिचर्ड वीनर के मुताबिक बहुत से आधुनिक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्रों में लोग खुद को धर्म से अलग करते जा रहे हैं। नीदरलैंड्स में जहां ऐसे लोगों की संख्या 40 फीसदी है, तो चेक गणराज्य में 60 फीसदी लोगों ने किसी भी धर्म से अपना जुड़ाव नहीं दर्शाया है। दक्षिण एशिया खासकर भारत जैसे विशाल मुल्क के निवासियों के लिए पश्चिमी दुनिया से ईश्वर के इस 'विलोप' की खबरें चौंकाने वाली लग सकती हैं। यहां के प्रार्थना स्थलों में पहुंचने वालों की तादाद निरंतर बढ़ती दिख रही है और लोगों के पर्यटन का एक अच्छा-खासा हिस्सा धार्मिक स्थलों की यात्राओं में ही खर्च हो जाता है। यहां आए दिन किसी न किसी धार्मिक जुलूस और पर्वों के चलते सड़कों पर जाम जैसी स्थिति बनती रहती है।

कुछ साल पहले टाइम्स ऑफ इंडिया समूह ने देश के प्रमुख महानगरों में इसी किस्म का एक सर्वे किया था। इसमें उत्तर और दक्षिण के बीच काफी फर्क दिखाई पड़ा। जहां सर्वे में शामिल उत्तर भारत के 92 फीसदी सहभागियों ने कहा था कि वे ईश्वर पर यकीन करते हैं, वहीं दक्षिण के 86 प्रतिशत सहभागियों ने ही ईश्वर में अपना विश्वास ज़ाहिर किया था। (26 नवम्बर 2006) लेकिन इन इलाकों में धर्म पर विश्वास रखने वाली आबादी की इतनी बड़ी संख्या के बावजूद यह महत्वपूर्ण है कि उत्तर भारत के 8 फीसदी और दक्षिण भारत के 14 फीसदी लोगों ने किसी भी ईश्वर में अपना विश्वास प्रकट नहीं किया था। पश्चिम में धर्म की विदाई और पूरब में उसके जमे रहने की उम्मीदें -इस पहेली को किस तरह समझा जा सकता है? यह फर्क पश्चिम एवं पूरब की जनता के स्वभाव या चारित्रिक अंतर की वजह से नहीं हैं। इसे समझने के लिए हमें उन्हीं पैमानों को अपनाना होगा जिनकी ऊपर चर्चा की गयी है। पूरब में धर्म का मतलब उसके मानने वालों के लिए महज पूजा-पाठ या नमाज अदा करना नहीं, बल्कि अनेक ऐसी गैरधार्मिक चीजें भी हैं, जिनकी ओर स्वयं धार्मिक संगठनों व संप्रदायों ने अपने कदम बढ़ाए हैं।

इस संदर्भ में कैंब्रिज विश्वविद्यालय का अध्ययन पर्याप्त रोशनी डालता है। यह अध्ययन भारतीय मूल की शिक्षाविद डॉ. श्रिया अय्यर की अगुआई में किया गया। विश्वविद्यालय की फैकल्टी आफ इकनॉमिक्स और कैंब्रिज जज बिजनेस

स्कूल की रिसर्च टीम ने लगभग दो साल के दौरान सात भारतीय राज्यों में फैले 568 हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, सिख और जैन धार्मिक संगठनों का अध्ययन किया। इसका मकसद था उन संगठनों द्वारा अपने अनुयायियों को दी जाने वाली धार्मिक एवं गैरधार्मिक सेवाओं की पड़ताल करना। अध्ययन के नतीजे 'रिसर्च होरायजंस' के 2011 के पूर्वाद्ध के अंक में प्रकाशित हुए हैं। इसके मुताबिक भारत के धार्मिक संगठन न केवल बिजनेस इकाइयों की तरह संचालित होते हैं, बल्कि इस 'बिजनेस मॉडल' में अपने अनुयायियों की निष्ठा बनाए रखने एवं नए अनुयायियों को आकर्षित करने के लिए उन्होंने अपनी गतिविधियों का विविधीकरण भी किया है। इन नयी गतिविधियों में गायें बांटना, कंप्यूटर आधारित प्रशिक्षण प्रदान करना, सिलाई और एरोबिक्स क्लासेज चलाना, चिकित्सा सुविधा देना आदि बातें शामिल थीं।

डॉ. अय्यर लिखती हैं कि हमने पाया कि धर्म का

लचीलापन इस पर टिका रहता है कि बिजनेस फर्मों की तरह ऐसे समूह भी नई-नई सेवाएं मुहैया कराने में सक्रिय दिखते हैं। उनके मुताबिक जिस तरह एक बिजनेसमैन अपने अन्य प्रतिद्वंद्वियों से आगे रहने की कोशिश करता है, उसी तरह विभिन्न धार्मिक समूह भी जिस राजनीतिक, पर्यावरणीय एवं आर्थिक वातावरण में संचालित हो रहे हैं, उनके अनुकूल तर्कसंगत आर्थिक गतिविधियां चलाते हैं। उनके मुताबिक बढ़ती आर्थिक असमानता के साथ गरीब और अधिक गैरधार्मिक सेवाओं की मांग करते हैं और धार्मिक संगठन इसे पूरा भी करते हैं। इस तरह लोग धार्मिक समूह की विचारधारा के अंतर्गत अपने धर्म के 'उपभोक्ता' हो जाते हैं। उसके साथ जुड़े रहने से वे अन्न, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और अन्य अनेक लाभ हासिल करते हैं। यह अपने धर्म के प्रति उनके लगाव को स्थिरता प्रदान करता है।



अन्ना के नाम इरोम शर्मिला की चिट्ठी

आम्ड फोर्सेज स्पेशल पावर्स एक्ट के खिलाफ पिछले दस सालों से अनशन कर रही मणिपुर की लौह महिला इरोम शर्मिला ने पिछले दिनों अन्ना हजारे द्वारा भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई में साथ देने के निमंत्रण के जवाब में एक पत्र लिखा था। पत्र में उन्होंने अन्ना के आन्दोलन के प्रति एकता प्रदर्शित करने के साथ ही कुछ और महत्वपूर्ण बातें कही हैं; प्रस्तुत है उसी पत्र का अनुवाद...

23 अगस्त 2011, मंगलवार
10.27 एएम, सेक्युरिटी वार्ड, जे.एन.हास्पिटल

सम्माननीय अन्ना जी,
आपके द्वारा लड़ी जा रही भ्रष्टाचार विरोधी रैली में शिरकत करने के आपके निमंत्रण का मैं तहे दिल से स्वागत करती हूँ। मगर मैं अपनी वस्तुस्थिति के प्रति आपको आश्वस्त करना चाहूंगी, कि आपकी जैसी परिस्थिति के विपरीत, मैं एक लोकतांत्रिक देश के एक लोकतांत्रिक नागरिक की हैसियत से, यहां के सम्बद्ध अधिकारियों की मर्जी के खिलाफ न्याय के लिए अपने अहिंसात्मक विरोध के अधिकार का इस्तेमाल नहीं कर सकती। यह एक ऐसी समस्या है जिसे मैं समझ नहीं पाती।

मेरा विनम्र सुझाव है कि यदि आप सचमुच गंभीर हों तो कृपया सम्बद्ध विधायकों (पढ़ें अधिकारियों) से अपनी तरह मुझे भी आजाद करवाने के लिए बात करें ताकि मैं सभी बुराइयों की जड़ भ्रष्टाचार को उखाड़ फेंकने के आपके शानदार युद्ध में शामिल हो सकूँ। या आप चाहें तो मणिपुर आ सकते हैं जो दुनिया का सर्वाधिक भ्रष्टाचार-पीड़ित क्षेत्र है।

पूरी एकता और पूरी शुभकामना के साथ,
इरोम शर्मिला

साभार बरगद.आर्ग में प्रकाशित इस चिट्ठी का अनुवाद मनोज पटेल द्वारा अपने ब्लॉग पढ़ते-पढ़ते के लिए किया गया।

विकास की वर्तमान संरचना को नकारते ओड़िसा के जनगण

■ फैसल अनुराग

यह कोई मामूली जीत नहीं- जनगण कुर्बानी देने के लिए पूरी तरह तैयार हैं लेकिन वह किसी भी कॉरपोरेट को एक इंच ज़मीन नहीं देंगे। ओड़िसा के जगतसिंहपुर के लोगों ने उलगुलान की एक ऐसी मिसाल पेश की है जिससे पूरे पूरबी भारत में नई ऊर्जा का संचार हुआ है। स्टील बनाने वाला दुनिया का चौथा सबसे बड़ा कॉरपोरेट पोस्को फिलहाल पीछे हटने के लिए बाध्य हुआ है और नवीन पटनायक की सरकार को भारी झटका लगा है। यह वही नवीन पटनायक है जिन्हें आज कॉरपोरेट घराने अपना मानते हैं। इसके ठीक पहले झारखंड में दुनिया के सबसे बड़े स्टील निर्माता मित्तल को खूंटी जिले के आदिवासियों ने ज़मीन नहीं दी और उसे खदेड़ दिया- उलगुलानों की इस धरती से एक बार फिर विकास के मॉडल पर विमर्श गहरा गया है- बंगाल, ओड़िसा, झारखंड और छत्तीसगढ़ के आदिवासी और मूलवासी जनगण का एक ही नारा है -एक इंच भी ज़मीन नहीं।

भारत के इस पूरबी अंचल में संघर्ष का नया इतिहास रचा जा रहा है- उन सभी कंपनियों को जिन्होंने इन राज्यों में सरकारों के साथ एमओयू किया है उन्हें लगातार पीछे हटना पड़ रहा है- बहस केवल पर्यावरण और मुआवज़े को लेकर नहीं है बल्कि अनुभवों ने इन आंदोलनों को तेवर दिया है- अनुभव यह है कि इन राज्यों में आज़ादी के बाद से अब तक करीब 80 लाख लोग विस्थापित किए गए हैं और उनमें से दो प्रतिशत का भी पुनर्वास नहीं हुआ है- इसके अलावा विकास की आंधी ने इन इलाकों की सांस्कृतिक पहचान और लोकाचार को भी प्रभावित किया है- आजीविका की पूरी संस्कृति नष्ट कर दी गयी है और पूरे इलाके के जनगण ने देशहित में जो बलिदान दिया है उसके एवज में उन्हें संसाधनों से पूरी तरह वंचित कर दिया गया है- इसीलिए पोस्को प्रतिरोध संग्राम समिति ने साफ कहा है : किसी भी हालत में पोस्को के लिए एक इंच ज़मीन नहीं दी जाएगी भले ही इसके लिए हम हर तरह के बलिदान के लिए तैयार हैं- ओड़िसा सरकार ने पोस्को की मदद के लिए 'पैरा मिलिट्री' को उतार दिया- इस आंदोलन को माओवादी आंदोलन बताने में अपनी पूरी ऊर्जा लगा दी- नवीन पटनायक की पार्टी बीजू जनता दल के मुख पत्र ओड़िया दैनिक खबर

ने लगातार आंदोलन को बदनाम करने का अभियान चलाया- लेकिन ज़मीन अधिग्रहण के लिए पोस्को और सरकारी अधिकारियों को गांव में घुसने ही नहीं दिया- यहां तक कि बच्चों और औरतों ने मोर्चा संभाल लिया- सरकार ने अपनी तरफ से दमन की पूरी कोशिश की लेकिन लोग जमे रहे- अंत में ओड़िसा सरकार को कहना पड़ा कि ज़मीन अधिग्रहण को अनिश्चित काल के लिए टाल दिया गया है- इसके बाद भी लोगों का भरोसा सरकार पर नहीं है- क्योंकि सरकार कॉरपोरेट के हित में कोई भी कदम उठा सकती है और जब इंसाफ करने वाले संस्थान भी पोस्को के साथ खड़े हों तो दबाव को समझा जा सकता है- पोस्को के सवाल पर राज्य और केंद्र दोनों ही सरकारों का रवैया एक जैसा है- जिस परिस्थिति में पोस्को को पर्यावरण क्लियरेंस दिया गया वह स्वयं विवाद का विषय है और उसकी जांच ज़रूरी है- लेकिन आखिर जांच कौन करेगा जब कि बड़ी कंपनियों के लिए राजनीतिक दलों में परोक्ष प्रत्यक्ष सहमति बनी हुई है- इसका कारण भी साफ है- जिन दो तीन परियोजनाओं से देश में सबसे ज्यादा प्रत्यक्ष पूंजी निवेश होना है उसमें पोस्को भी एक है- राज्य सरकार ने पोस्को के पक्ष के लिए हर तरह का हथकंडा अपनाया- केंद्र से लेकर अदालतों तक को प्रभावित करने का प्रयास किया- पोस्को कर्नाटक में अब ज़मीन की तलाश में है तो ओड़िसा सरकार उसे मनाने में लगी हुई है- यही नहीं आंदोलनकारियों को माओवादी बताने की प्रक्रिया भी तेज़ कर दी है- ओड़िसा सरकार के उच्चाधिकारी ने बयान दिया है कि इस आंदोलन के पीछे माओवादियों का हाथ है जब कि पोस्को प्रतिरोध संग्राम समिति स्पष्ट कर चुकी है कि वह शांतिपूर्ण तरीके से अपने संसाधनों पर जनहक के लिए लड़ रहे हैं- शासक वर्ग के लिए पूरे पूरबी भारत में यह आसान तरीका बन गया है-

जुलाई का पूरा महीना आंदोलनों के फैसलाकुन था- जिस एकता का परिचय लोगों ने दिया इसकी उम्मीद न तो कॉरपोरेट घराने को थी और न ही सरकार को- जब बच्चे मैदान में आ गए तो सरकार को अपना लोकतांत्रिक चेहरा बचाने के लिए पीछे हटना पड़ा- जगतसिंहपुर ओड़िसा का कोस्टल इलाका है- पोस्को 4000 एकड़ ज़मीन स्टील कारखाना,

लौह अयस्क खदान और बंदरगाह के लिए लेना चाहता है- उसका इरादा भारतीय संसाधनों का दोहन कर दुनिया भर से मुनाफा कमाने का है- इसे पोस्को के अधिकारी इस तरह कहते हैं कि भारत की एक बड़ी भूमिका वे पोस्को के विस्तार योजनाओं में देखते हैं- जानकार बताते हैं कि पोस्को भारत के इस अंचल से केवल सस्ता संसाधन लेने के लिए ही आ रहा है- इससे भारत को कोई फायदा नहीं होने जा रहा सिर्फ प्रत्यक्ष पूंजीनिवेश को छोड़ कर- चूंकि तकनीकी तौर पर भी यह कारखाना बहुत उन्नत होगा इसलिए इसमें ज्यादा रोजगार सृजन की भी संभावना नहीं है- आंदोलन के नेता कहते हैं कि सरकार ने पोस्को के लिए घुटने टेक दिए हैं- उसे अपनी ही जनता की ज़रूरतों, संस्कृति और भावनाओं से कोई लगाव नहीं है-

पोस्को के लिए जिस तरह पर्यावरण मंत्रालय ने ज़मीन अधिग्रहण की मंजूरी दी वह भी भारत की नवउदारवादी नीतियों के लिए जनगण को बेदखल करने और उसके संसाधनों को छीन लेने के इरादे की बानगी है- पहले पर्यावरण मंत्री जयराम रमेश ने कहा कि पर्यावरणीय हितों की किसी भी हालत में अनदेखी नहीं की जाएगी- केंद्र सरकार ने मीना गुप्त के नेतृत्व में एक चार सदस्यीय कमेटी का गठन किया- इस कमेटी ने बहुमत से कहा कि पोस्को को दिए गए तमाम निकासी संबंधी सभी अधिकारों को तुरंत प्रभाव से रद्द कर देना चाहिए- उसने उन नियमों और कानूनों का हवाला दिया जिसकी अनदेखी कर पोस्को को खनिज और कारखाना लगाने की इजाज़त दी गयी थी- इस कमेटी ने पोस्को परियोजना को गैर-कानूनी भी बता दिया- समिति इस नतीजे पर भी पहुंची कि सरकारी अधिकारियों से मिलीभगत कर पोस्को ने कानूनों को बेमानी-सा बना दिया है- परियोजना बनाते समय आबादी और पर्यावरण को होने वाले नुकसानों का सही तरीके से आंकलन भी नहीं किया गया- इस समिति की रिपोर्ट में कहा गया है : विकास के नाम पर कानूनों के उल्लंघन का बेहतरीन नमूना पोस्को की यह परियोजना है- यह परियोजना केवल मुनाफा के लिए है- इससे विकास होगा कहा नहीं जा सकता- यह परियोजना न्यायिक और कानूनी मान्यताओं को नुकसान पहुंचाएगी- साथ ही इस परियोजना ने केंद्र तथा राज्य सरकार दोनों के ही पर्यावरणीय नियमों का खुला उल्लंघन किया है- साथ ही उन लोगों की ज़मीन बिना उनकी मर्जी से ली जा रही है जिन पर उनका मालिकाना हक है-

इस रिपोर्ट ने पूरे राजनीतिक जगत को चौंका दिया- इसके पहले सक्सेना समिति ने वेदांता परियोजना और पोस्को

के बारे में सर्वसम्मति से ऐसी ही बातें कही थीं और राहुल गांधी नियमागिरि जा कर कह आए थे कि वे लोगों की बेदखली के पक्ष में नहीं हैं- सक्सेना समिति ने वनाधिकार कानून का हवाला देते हुए स्थानीय लोगों की अपेक्षाओं को उजागर करते हुए कानून के उल्लंघन की बात की थी- ओड़िसा सरकार ने इस सवाल को केंद्र बनाम राज्य का मुद्दा बनाने का प्रयास किया और सक्सेना समिति पर आरोप लगाया कि उसने बिना दस्तावेजों का अध्ययन किए ही ऐसी बातें की हैं- ओड़िसा सरकार ने यहां तक कहा कि इसमें वनाधिकार कानून की कोई अवमानना नहीं हुई है क्योंकि पारंपरिक रूप से लोगों के अधिकार ही इस ज़मीन पर नहीं हैं- लेकिन ओड़िसा सरकार ने अपनी बात कहते हुए न केवल वनाधिकार कानून बल्कि वन संरक्षण कानून और कोस्टल अधिनियमों की अनदेखी की और लोगों के अधिकारों का ही हनन कर दिया- ओड़िसा सरकार के दबाव और बाद में केंद्रीय वन एवं पर्यावरण मंत्रालय दोनों ने ही पोस्को के हित के लिए वास्तविक दस्तावेजों से आंख मूंद लिया- मीना गुप्त कमेटी की रिपोर्ट को नज़रअंदाज करते हुए पोस्को पर कुछ शर्तों की बात की गयी और उसे सहमति दे दी गयी- वेदांता की तरह ही केंद्र सरकार ने इसमें भी अंततः पोस्को के साथ समझौता कर लिया- कहा जाता है कि इसके लिए अंतर्राष्ट्रीय दबाव भी बनाया गया और सुप्रीम कोर्ट को भी इसमें साझीदार बना लिया गया- पोस्को और पटनायक ने समझा कि उनकी जीत हो गयी है और दमन का रास्ता लेते हुए लोगों से ज़मीन छीनने की प्रक्रिया शुरू कर दी गयी- आंदोलन को तोड़ने का प्रयास भी किया गया लेकिन लोगों ने एकता को टूटने नहीं दिया- जी 20 देशों के सम्मेलन में गत साल नवंबर में प्रधान मंत्री ने दक्षिण कोरिया से वादा किया था कि वे पोस्को की राह में आ रही बाधा दूर करेंगे।

पोस्को के संदर्भ का व्यापक पहलू यह है कि इसने राज्य और केंद्र दोनों ही सरकारों को बेनकाब कर दिया है- ओड़िसा में नवीन पटनायक ने जिस तरह कॉरपोरेट घरानों से समझौता किया है उसने कई सवालों को खड़ा किया है- आज ओड़िसा के बड़े भाग में विस्थापन के खिलाफ जनसंघर्ष जारी है- कलिंगनगर में आदिवासियों को टाटा घराने के हित में मौत के घाट उतारा गया- कलिंग नगर में अब भी प्रयास किया जा रहा है कि लोगों को भयभीत किया जाए- इसी तरह आदिवासी बहुल सुंदरगढ़, मयूरभंज और क्योँझर जिलों में दमन का राज है- केवल सुंदरगढ़ जिले में 14 से 30 साल के 700 से ज्यादा युवा आकड़सा के जेलों में बंद हैं- उनमें से कई के खिलाफ अन-लॉ-फुल एक्टिविटी कानून

लगा दिया गया है- मानो आतंकवाद की पूरी एक फसल यहां तैयार हो रही हो- कोरापुट जिला आदिवासी बहुल है- यहां माना जाता है कि कालिदास ने जिस मेघदूत से संदेश भेजा था वह इसी इलाके में था- कोरापुट की आदिवासी अवधारणा में यह भी मान्यता है कि दुनिया में सबसे पहले धान की पहखन यहीं के गदवा आदिवासियों ने की- कोरापुट पहाड़ों के आगोश में है- लेकिन आज सारे पहाड़ संकट में हैं और यहां के आदिवासी पहाड़ बचाने के लिए लड़ रहे हैं- इनके दमन का रास्ता भी पटनायक सरकार ने ठीक उसी तरह अपनाया है जैसा कि झारखंड के पार्श्ववर्ती ओड़िसा के जिलों में।

ओड़िसा के लोग अक्सर यह सवाल करते हैं कि राउरकेला में इतना बड़ा इस्पात कारखाना उस दौर में ही बना जब पंडित नेहरू एक ओर आदिवासी इलाकों के लिए पंचशील की बात करते थे- लेकिन राउरकेला के लिए जिन लोगों ने विस्थापन झेला उनकी आज क्या स्थिति है- अब भी उनका संदर्भ जारी है- न तो उचित मुआवज़ा मिला न ही पुनर्वास और आदिवासी बहुल इलाके की आबादी का संतुलन भी बदल गया- आखिर संविधान की पांचवी अनुसूची का क्या अर्थ है जो आदिवासी इलाकों के लिए विदेश नीति की वकालत करता है- हम पोस्को के संदर्भ को पूरबी भारत के संदर्भ में व्यापक फलक पर देख सकते हैं-

ओड़िसा के संदर्भ में देखें तो विकास जनित विस्थापन की शुरुआत ओड़िसा व आन्ध्रप्रदेश के सीमा पर स्थित कोरापुट में मचकुंद पन बिजली परियोजना के निर्माण से हुई, जहां डैम निर्माण के कारण कोरापुट क्षेत्र से बड़ी संख्या में आदिवासियों को विस्थापित होना पड़ा था और आज भी सरकार विस्थापित परिवारों को नहीं ढूँढ पाई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1948 में भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने ओड़िसा में हीराकुंड डैम की आधारशिला रखी थी और कहा था “यह आधुनिक भारत का एक मंदिर है”। हीराकुंड परियोजना के लिए 1,67,376 हेक्टेयर भूमि अधिग्रहित की गई थी और इस ज़मीन में से 1,11,127 हेक्टेयर खेती की उपजाऊ ज़मीन थी। इस परियोजना के कारण 1.6 लाख लोग विस्थापित या प्रभावित हुए थे। मात्र 26 हेक्टेयर के लिए मुआवज़ा दिया गया था और किसानों को व्यक्तिगत रूप से 16 एकड़ ज़मीन के लिए मात्र 1800 रुपये दिये गये थे।

सरकार ने किसानों को मुआवज़ा देने का भरोसा दिलाया था लेकिन समय बीतने के साथ-साथ सरकार इस आश्वासन से मुकर गई। तब लोगों को प्रदर्शन के लिए सड़कों पर उतरना पड़ा और इस विरोध को भी उसी तरह कुचल दिया

गया, जैसा कि आज हम नंदीग्राम, काशीपुर, कलिंग नगर और अन्य स्थानों में देख रहे हैं। रेनगाली, ऊपरी व निचली कोलाब, इंद्रावती डैम निर्माण के कारण भी इसी तरह बड़ी संख्या में आदिवासी जनता विस्थापित हुई है और समाज के चंद लोगों के विकास के नाम पर बड़ी संख्या में इनके गांवों को डुबो दिया गया। वर्तमान में उड़ीसा के बलांगीर जिले के निचले सुकतेल क्षेत्र में यही प्रक्रिया फिर दोहराई जा रही है।

खदानों के कारण राज्य के आदिवासी क्षेत्रों में ओड़िसा ने विस्थापन की लंबी श्रृंखला देखी है और यह इलाके मयूरगंज, क्यॉंझर, झारसुगुड़ा, तालचर, रायगढ़ा और सुन्दरगढ़ जिलों में आते हैं। इन इलाकों में कृषि और वन उत्पादों पर रहने वाली एक बड़ी आबादी को सरकार व कंपनियों द्वारा विस्थापित कर दिया गया और किसी भी इलाके में यह नहीं पाया गया कि सरकार पुनर्वास में सफल है। यहां प्रश्न यह है कि क्या सभी विस्थापित परिवारों का पुनर्वास हुआ और उनकी स्थिति क्या है, सरकार उनके बारे में क्या सोच रही है या प्रश्न यह भी है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के 60 वर्ष बाद भी राज्य में सत्तासीन हुए दलों के पास कहने को कुछ नहीं है कि उन्होंने विकास के नाम पर उनके लिए कुछ भी किया हो। वर्तमान ओड़िसा सरकार एक निजी एल्युमिनियम फैक्ट्री के साथ मिलकर कोरापुट की आदिवासी आबादी को मल्लीपर्वत में बॉक्साइट उत्खनन के नाम पर विस्थापित करने की कोशिश कर रही है।

हमने देखा है कि वन संबंधी कानून व नीतियों को लागू कर सेंचुरी के कारण और वनों का नियंत्रण राज्य-सत्ता द्वारा अपने हाथों में लिये जाने के कारण सिम्पलीपाल, सुनाबेड़ा और ओड़िसा के तटीय इलाकों में आदिवासी आबादी को विस्थापित किया गया है और ओड़िसा सरकार ने इन इलाकों में सभी तरह की विकास व कल्याणकारी कार्यों को बंद कर दिया है एवं इन गरीबों को जंगलों में बिना किसी सुविधा के मरने व भूख से तड़पने को मजबूर किया है। इस कारण सिम्पली सेंचुरी में हुई बच्चों की मौत समाज के सामने इस बात का स्पष्ट सूचक है कि सरकार आदिवासियों और वनवासियों के साथ किस तरह व्यवहार कर रही है, जिनका जीवन-आधार ही इन जंगलों पर है।

वर्तमान में सरकार ओड़िसा के कालाहांडी जिले में कारलापुट सेंचुरी से आदिवासियों को विस्थापित करने की कोशिश कर रही है। यह भी देखा गया है कि ओड़िसा सरकार ने चिल्का विकास प्राधिकार का गठन किया है और अपनी जीविका के लिए झील में मछली मारने वाले मछुआरों

की गतिविधि इस संचुरी में प्रतिबंधित कर दी है। डॉल्फिन संचुरी घोषित कर भी कुछ इलाकों में मछुआरों को परेशान किया जा रहा है। मछुआरों के लिए जीवित रहना काफी मुश्किल हो गया है और यह कहना काफी कठिन होगा कि तटीय इलाकों में मछुआरों की अगली पीढ़ी जीवित रह पायेगी या नहीं। यह काफी स्पष्ट है कि ओड़िसा सरकार किस तरह अपनी मशीनरी का प्रयोग पारादीप में पोस्को द्वारा प्रस्तावित बंदरगाह के लिए ज़मीन अधिग्रहण करने के लिए कर रही है और इस समुद्री इलाके से 10 हजार से ज़्यादा मछुआरा परिवारों को खदेड़ा जा चुका है।

1950 में राउरकेला स्टील प्लांट द्वारा सुन्दरगढ़ में 30 हजार आदिवासियों को उनकी सरज़मीन से विस्थापित किया गया था, 1960 में हिन्दुस्तान, एरॉनॉटिकल लिमिटेड, कोरापुट ने 468 आदिवासी परिवारों को विस्थापित किया, 1964 में हिन्दुस्तान, एरॉनॉटिकल लिमिटेड के ठीक बगल में एक बार फिर नाल्को एल्युमिनियम फैक्ट्री द्वारा आदिवासियों को विस्थापित किया गया। तालचर ताप विद्युत संयंत्र ने भी ढेर सारे लोगों को ग्रामीण आजीविका के साधनों से विस्थापित किया। झारसुगुड़ा के आईबी ताप विद्युत संयंत्र ने भी आदिवासियों को उनकी ज़मीन से विस्थापित किया और विद्युत परियोजना के नाम पर 1602 एकड़ ज़मीन अधिग्रहित की गई। जैसा कि हम जानते हैं कि पश्चिमी ओड़िसा औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना का केन्द्र बन चुका है। यह राउरकेला से शुरू होता है आगे बढ़ते हुए इस क्षेत्र में उड़ीसा के झारसुगुड़ा, संबलपुर, तालचर, रायगढ़, कालाहांडी, कोरापुट और अन्य जिले आते हैं। जहां सभी छोटी और बड़ी फैक्ट्रियां पाई जाती हैं और यह इलाका मूलतः आदिवासी आबादी का निवास क्षेत्र रहा है। इस इलाके में ध्यान केन्द्रित करने का मूल उद्देश्य प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और इस क्षेत्र से ज़्यादा-से-ज़्यादा लाभ उठाने की थी एवं साथ ही यह भी योजना थी कि हाशिये पर पड़ी बड़ी आबादी को अंधकार में छोड़ दिया जाए।

अब ओड़िसा सरकार औद्योगिक घरानों को ज़मीन उपलब्ध करा रही है और जिसका ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है :-

पोस्को	-	9500 एकड़
मित्तल	-	8000 एकड़
टाटा	-	4400 एकड़
वेदांत	-	8000 एकड़
एस्सार स्टील	-	2000 एकड़
रिलायंस	-	15000 एकड़
भूषण	-	3500 एकड़

ओड़िसा मामले में सच्चाई क्या है ?

राज्य सरकार यह तर्क देती है कि नये निवेश से विकास तेज़ होगा, जिसके फलस्वरूप गरीबी मिटाने में मदद मिलेगी लेकिन सच्चाई यह है कि यह निवेश गरीबों के जीविका का साधन छीनकर गरीबी नहीं गरीबों को ही समाप्त कर रहा है।

राज्य सरप्लस (अपनी आवश्यकता से अधिक) बिजली का उत्पादन करता है लेकिन 20 प्रतिशत ग्रामीणों तक बिजली की पहुँच ही नहीं है। प्रश्न यह खड़ा होता है कि सरप्लस बिजली का उपभोग कौन कर रहा है?

- सरकार इसकी वकालत करती है कि विदेशी निवेश को आकर्षित कर और सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयों का निजीकरण कर वह गरीबी मिटाने के लिए सामाजिक क्षेत्र में ज़्यादा संसाधन लगायेगी। पर अब तक इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया है।
- ओड़िसा में 46.7 प्रतिशत आबादी गरीबी रेखा के नीचे है और उनकी बिजली और शुद्ध पेयजल तक कोई पहुँच नहीं है, राज्य में साक्षरता दर 49 प्रतिशत है। हाशिये पर पड़े लोगों की स्थिति सुधारने की जगह सरकार कॉरपोरेट क्षेत्र को करों में छूट, सब्सिडी और गारंटियां दे रही है।
- चूंकि नई परियोजनाएं सघन पूंजी पर बहुत ज़्यादा निर्भर होती हैं, इस कारण स्थानीय आबादी के लिए रोज़गार के बहुत कम नये अवसर सृजित किये जा सकते हैं।
- ज़्यादातर लोग बगैर नकद मुआवज़े, रोज़गार और कृषि भूमि के रह जायेंगे।
- गरीबों के लिए आजीविका का कोई विकल्प नहीं बचा रह पायेगा।
- इंस्टीट्यूट ऑफ पॉलिसी स्टडीज़ की एक अध्ययन के अनुसार अगर सभी प्रस्तावित परियोजनाएं शुरू हो जायें तो ओड़िसा के उद्योग और ताप विद्युत संयंत्र 164 मिलियन टन कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का जहर हवा में घोलेंगे।
- ओड़िसा में अनुबंध खेती (Contract farming) शुरू करने की कोशिशें चल रही हैं, पर यह प्रयास खाद्य सुरक्षा के घेरे को कमज़ोर करेगा क्योंकि क्या उपजाना है, इसके लिए किसान कॉरपोरेट की दया पर आश्रित हो जायेंगे।
- “सबसे पहले भोजन” से हटकर कृषि योजना सबसे पहले निर्यात को बढ़ावा देगी।

क्रमशः जारी

धुंधले प्रतीकों के दौर में एक अभिशप्त मिथक थे हुसैन!

■ प्रभात रंजन

एम.एफ. हुसैन की मृत्यु की खबर जबसे सुनी, यही सोचता रहा कि आखिर क्या थे हुसैन! कई अर्थों में वे बहुत बड़े प्रतीक थे। राजनीतिक अर्थों में वे सांप्रदायिकता-विरोध के जितने बड़े प्रतीक थे, बाद में भगवाधारियों ने उनको उतने ही बड़े सांप्रदायिक प्रतीक में बदल दिया। उनका कहना था कि हुसैन ने एक मुसलमान होते हुए हिंदू देवियों को नग्न चित्रित किया, भारत माता को नंगा कर दिया। हुसैन धार्मिक द्वेष फैलाता है, हुसैन भारतद्रोही है। हुसैन पर हमले हुए, हुसैन पर मुकदमे हुए। आधुनिक भारत के उस पेंटर पर जो अपने प्रगतिशील विचारों के लिए जाना जाता रहा, जिसे भारत की सामासिक संस्कृति का एक बड़ा कला-प्रतीक माना जाता रहा, जिसे हिंदू मिथकों को बारीकी से पेंट करने वाले पेंटर के रूप में जाना जाता रहा वह देखते-देखते घृणा के एक बहुत बड़े प्रतीक में बदल गया। वह घृणा के प्रतीकों को गढ़े जाने का दौर था, सांप्रदायिक ताकतों को हुसैन की अमूर्त कला में मूर्त प्रतीक के दर्शन होने लगे। उनकी वह कला पीछे रह गयी, जिसके कारण उनको भारत का पिकासो कहा जाता था। हुसैन को अक्सर इन दो विपरीत राजनीतिक ध्रुवांतों से देखा जाता रहा।

निस्संदेह हुसैन की उपस्थिति चित्रकला के जगत में विराट के रूप में देखी जाती है। एक ऐसा कलाकार, जिसकी ख्याति उस आम जनता तक में थी, जिसकी पहुंच से उसकी कला लगातार दूर होती चली गयी। हुसैन देश में पेंटिंग के ग्लैमर के प्रतीक बन गये। कहा जाता है कि अपने जीवन-काल में उन्होंने लगभग साठ हजार कैनवास चित्रित किये, लेकिन धीरे-धीरे वे अपनी कला के लिए नहीं अपने व्यक्तित्व के लिए अधिक जाने गये।

हुसैन को इस रूप में देखना भी दिलचस्प होगा कि जब तक देश में सेक्युलर राजनीति का दौर प्रबल रहा, उन्होंने अनेक बार समकालीन राजनीति से अपनी कला को जोड़कर प्रासंगिक बनाया। इसका एक उदाहरण साठ के दशक में राम मनोहर लोहिया के साथ उनके जुड़ाव के रूप

में देखा जा सकता है, उनके द्वारा आयोजित रामायण मेले से उनके जुड़ाव के रूप में, तो सत्तर के दशक में इंदिरा गांधी को बांगलादेश युद्ध के बाद दुर्गा के रूप में चित्रित करने के रूप में देखा जा सकता है।

राम मंदिर आंदोलन के बाद के दौर में राजनीतिक का सांप्रदायिक ध्रुवीकरण बढ़ने लगा, तो उस दौर में हुसैन ने राजनीति नहीं मनोरंजन के प्रतीकों के माध्यम से अपनी कला को लोकप्रिय बनाया। उन्होंने उस दौर कि सबसे लोकप्रिय अभिनेत्री माधुरी दीक्षित को पेंट किया, चालीस के दशक में सिनेमा के पोस्टर बनाने वाले इस चित्रकार ने उसको लेकर बेहद महंगी फिल्म बनायी। उनकी लोकप्रियता बढ़ती गयी, बाजार में उनकी कला की कीमत बढ़ती गयी। यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि जिस दौर में हुसैन ने 'पोलिटिकली करेक्ट' होने का ढब छोड़ दिया, उसी दौर में उनके पुराने चित्रों के आधार पर इस सबसे बड़े जीवित कला-प्रतीक को एक ऐसे मुसलमान में बदला जाता रहा, जिसने हिंदू देवियों को गलत तरीके से चित्रित किया।

हुसैन को बाद के दौर में उनकी कला के लिए नहीं, विवादों, घृणा के लिए जाना गया। एक तरफ उन्होंने बाज़ार को अपनाया या बाज़ार ने उनको बेहतर तरीके से अपना बनाया, लेकिन वे चित्रकला जगत के सबसे बड़े शो-मैन बन गये। उनका अपना व्यक्तित्व इतना बड़ा प्रतीक बन गया कि 15 सेकेंड की प्रसिद्धि के इस दौर में भी उनकी ख्याति बढ़ती ही गयी। लेकिन इसी दौर में उनको देश-बदर होना पड़ा। जिस देश की सामासिक संस्कृति और कला को वे विश्व स्तर पर लेकर गये, उसी देश से। हुसैन का देश छोड़ना एक तरह से देश से उस सेक्युलर राजनीति के सिमटते जाने का भी प्रतीक कहा जा सकता है, जिसकी दृष्टि ने हुसैन जैसे कलाकार को संपूर्णता में अभिव्यक्त करने का अवसर दिया। बनते-बिगड़ते प्रतीकों के इस दौर में हुसैन एक अभिशप्त मिथक की तरह जिये और मरे।

साभार : मोहल्ला

फाँसी के तख्ते से जूलियस फूचिक

चेकोस्लोवाकिया का क्रांतिकारी

जूलियस फूचिक ने यह पुस्तक नात्सी जल्लाद के फन्दे की छाया में लिखी थी। इसकी पांडुलिपि के रूप से ही इसके लेखक के अदम्य साहस और अनोखी सूझबूझ का प्रमाण मिल जाता है। इसकी पांडुलिपि हैं कागज की स्लिपें जिन पर पेंसिल से लिखा हुआ है। बाद में यही स्लिपें एक हमदर्द चेक सन्तरी की मदद से पांक्राट्स, प्राग, के गेस्टापो जेल से एक-एक करके चोरी-चोरी बाहर लायी गयीं। फूचिक, जिसे अपने आप से छल करना क़तई मंजूर नहीं था, जानता था कि वह इस खतरों भरी किताब को समाप्त नहीं कर सकेगा। लेकिन तब भी उसका यह विश्वास अपनी जगह पर बिल्कुल ठूढ़ था कि उसके अपने देश के लाखों-करोड़ों लोग और दूसरे देशों के फासिस्त-विरोधी जन जल्द ही उसकी इस पुस्तक का उसके ही शब्दों में 'सुखद अंत' लिखेंगे।

...पिछले अंक से जारी

चित्र और रेखाएं-2

'स्मेटांज़'

स्मेटांज़ का बेडौल, भारी-भरकम शरीर; कुंद, बुझा हुआ चेहरा और एकदम भावशून्य आँखें प्रतिरूप हैं उन व्यंग्य चित्रों की जो ग़ोर्ज़ ने नात्सी स्टार्मट्रपरों के बनाये हैं। वह पूर्वी प्रशिया की लिथुआनियन सीमा के पास ग्वाले का काम करता था, लेकिन अजीब बात है कि वह नेक जानवर गाय भी उस पर कोई असर न डाल सकी। ऊपर, लोग उसे जर्मन चरित्र का मूर्त समझते हैं-वह कठोर है, फुर्तीला है, उसे रिश्वत नहीं दी जा सकती। वह उन थोड़े से लोगों में से है जो ट्रस्टियों से, जिनसे गलियारे में उसकी मुलाकात होती है, अपने हिस्से से ज़्यादा खाना नहीं मांगता, लेकिन...

किसी जर्मन वैज्ञानिक ने, नाम नहीं याद आ रहा है, एक बार जानवरों की अकल इस तरह नापी थी कि वे कितने 'शब्द' बना पाते हैं। इस आधार पर उसने नतीजा निकाला था कि पालतू बिल्ली तमाम जानवरों से कम अकल वाली होती है-क्योंकि, ऐसा लगता है, वह सिर्फ 128 शब्द बना पाती है। लेकिन भई, स्मेटांज़ के मुकाबले में तो बिल्ली भी बहुत बड़ी-चढ़ी विदुषी है क्योंकि स्मेटांज़ के मुँह से पांक्राट्स ने आज तक चार से ज़्यादा शब्द नहीं सुने:

'ए, दिमाग ठिकाने रखना!'

हफ़्ते में दो या तीन बार उसे काम पर से अलग किया जाता। हर बार उसे इस बात से तकलीफ़ होती, लेकिन वह सदा इस छोटी-सी रस्म में कोई-न-कोई गड़बड़ी कर बैठता है। एक बार मैंने जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट को उसे इसलिए डाँटते देखा था कि उसने



खिड़कियाँ नहीं खोली थीं। गोश्त का वह ढेर, छोटी-छोटी गठीली टाँगों के सहारे एक बार आगे जाता था फिर पीछे आता था, पीछे आता था फिर आगे जाता था, उसका बोदा सर आगे की तरफ जरा झुका हुआ था, उसके मुँह के कोने इस कठिन कोशिश में गिरे हुए थे कि वह उस हुक्म को एक बार दोहरा दे जो उसके कानों ने अभी-अभी सुना था...और फिर अचानक गोश्त का यह पहाड़ भोंपू की तरह गरजने लगा और गलियारे भर में सब सकते में आ गये। किसी की समझ में न आया कि यह सब क्या और क्यों हो रहा है, खिड़कियाँ बदस्तूर बन्द रहीं और दो कैदी जो स्मेटांज़ के सबसे करीब थे, उनकी नाक से खून बहने लगा। सवाल को हल करने का यह उसका तरीका था।

और यही उसका कायदा था। वह जिस किसी को भी पाता, मार चलता, मारते-मारते मार तक डालता। इतना ही उसकी समझ में आता था। और कुछ नहीं। एक बार वह एक कोठरी में घुसा और उसके एक आदमी को मार दिया। कैदी बीमार था, ज़मीन पर गिर पड़ा और मारे तकलीफ के लोटने लगा। स्मेटांज़ ने कोठरी के बाकी लोगों को भी मजबूर किया कि वह भी उसकी तिलमिलाहट और ऐंठन की ताल पर उठें-बैठें। बीमार के थकने और उसकी ताकत खत्म होने के साथ-साथ उसकी ऐंठन भी खत्म हो गयी। तब स्मेटांज़ कूल्हों पर हाथ रक्खे बेवकूफ़ आदमी की तरह मुस्कराने लगा: वह बड़ा खुश था कि ऐसे पेचीदा मसले को उसने कैसे खूबी से हल कर लिया!

वह सचमुच आदिम काल का जंगली आदमी था जिसे उन तमाम बातों में से जो कि उन लोगों ने उसे सिखाने की कोशिश की

थी सिर्फ एक बात याद थी-कि ज़्यादातर मसले मार-पीट से हल हो जाते हैं।

आखिरकार इस जानवर के अंदर भी कोई चीज़ टूटी। लगभग एक महीना पहले की बात है कि वह और क-जेल के गोल कमरे में बैठे हुए थे। क-उसे परिस्थिति समझा रहा था। इतना घुमा-फिराकर, तूल देकर, हैरान हो-होकर बात समझायी गयी कि वह स्मेटांज़ की अक़ल में भी कुछ-कुछ धँसी। तब वह खड़ा हुआ, कमरे का दरवाज़ा खोला, बहुत गौर से गलियारे को देखा। एक आवाज़ नहीं, उस मृत्यु जैसी निस्तब्ध बेला में सभी सो रहे थे। उसने दरवाज़ा बन्द किया, सावधानी से ताला लगाया और धीरे से कुर्सी में गिर पड़ा: 'तो तुम्हारा ख्याल है...?'

ठुड्ठी हथेली पर टिकाये वह बैठा था। उस भारी-भरकम, पहाड़ जैसे शरीर में जो छोटी-सी आत्मा थी उस पर एक बहुत भयानक बोझ आकर बैठ गया। बहुत देर तक वह सिर झुकाये बैठा रहा, फिर सिर उठाया और गहरी निराशा के स्वर में कहा:

'तुम ठीक कहते हो। हम नहीं जीत सकते...'

पिछले एक महीने से पांक्राट्स ने स्मेटांज़ की रण-गर्जना नहीं सुनी है। नये कैदी उसके घूँसे को नहीं जानते।

'जेल संचालक'

वह एक छोटे-से, फ़ौजी दस्ते का लीडर था; सदा ठाठदार कपड़े पहने रहता, वह फिर चाहे फ़ौजी वर्दी हो या शहरी पोशाक; देखने से बड़ा चिकना-सा समृद्ध-सा लगता, और अपने आप पर बेहद मगन। उसे कुत्तों, शिकार और औरतों से प्रेम था- लेकिन उससे हमें क्या मतलब।

उसके चरित्र के दूसरे पहलू में-जिसका पांक्राट्स से सम्बन्ध है-यह बात थी कि वह बिल्कुल अशिक्षित, गँवार, और मोटे रेशे का आदमी था। वह बिल्कुल खास नात्सी छिछोरा था जो अपना रुतबा बनाये रखने के लिए किसी की भी कुर्बानी कर सकता है। वह पौलेंड का रहने वाला है और उसका नाम सॉप्पा है, पता नहीं इस नाम का क्या मतलब है। सुनते हैं पहले वह लुहार का काम सीखता था, मगर उस ईमानदार पेशे का उस पर कोई असर नहीं दिखायी देता था। हिटलर की नौकरी करते उसे एक ज़माना हो गया था और इस वक्त उसका जो रुतबा है वह उसे खुशामद और साजिशों के जोर से मिला है। वह हर मुमकिन चालाकी से अपनी नौकरी की रक्षा करता है। उसे किसी कैदी या अपने किसी आदमी, बच्चों या बुड़ों, किसी के लिए कोई खयाल नहीं है और न उनके लिए दिल में कोई भाव है। पांक्राट्स के जेल कर्मचारियों के दिल में नात्सीवाद के लिए कोई खास बात नहीं है, लेकिन उसमें से शायद ही कोई सॉप्पा जैसा भावनाशून्य आदमी हो। जेल का डॉक्टर पुलिस मास्टर वाइज़नर वह अकेला आदमी है जिसको वह कुछ समझता है और जिससे वह अक़सर बातचीत करता है। लेकिन लगता है कि उधर से ऐसी बात नहीं है।

सॉप्पा को सिर्फ अपनी चिन्ता रहती है। अपना वर्तमान पद जिसमें वह लोगों पर राज करता है, उसने केवल अपने लिए हासिल किया है और अपने ही लिए वह अन्तिम क्षण तक वर्तमान सरकार की नमक-हलाली करेगा। वह शायद अकेला आदमी है जो

कभी-कभी यह सोचता है कि क्या मुक्ति का कोई और भी रास्ता है, मगर अब वह जानता है कि ऐसा कोई रास्ता नहीं है। नात्सीवाद का पतन उसका अपना पतन होगा, जो उसके ऐश्वर्यपूर्ण जीवन का अन्त कर देगा, उसके खूबसूरत मकान का, उसकी अपनी शानो-शौकत का, जिसे बनाये रखने के लिए उसे मार डाले गये चेकों का कपड़ा इस्तेमाल करने में भी कोई हिचक न हुई।

हाँ, वह सचमुच उसका भी अन्त होगा।

'जेल डॉक्टर'

पुलिस मास्टर वाइज़नर-पांक्राट्स के रंगमंच पर कैसा विचित्र अभिनेता। उसे देखकर अक़सर लगता है कि यहाँ के वातावरण में वह कुछ जमता नहीं-लेकिन उसके बिना भी तो पांक्राट्स की कल्पना नहीं की जा सकती। जब वह मरीज़ों के कमरे में नहीं होता तो अपने छोटे-छोटे झूमते हुए कदमों से गलियारों में जैसे फिसलता-सा चला आता है-अपने से बात करता हुआ और अपने चारों तरफ की हर चीज़ पर गौर करता हुआ, हर वक्त गौर करता हुआ। वह एक परदेसी यात्री की तरह है जो यहाँ चला आया है और यहाँ के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा तफ़्सीलें बटोरकर अपने साथ ले जाना चाहता है। लेकिन ताले में चाभी डालने और गुपचुप कोठरी का दरवाज़ा खोलने में वह किसी भी चोर से कम नहीं है। उसमें एक बहुत सूखे ढंग का मज़ाक करने का माद्दा है, और उसी के बल पर वह ऐसी बातें कह जाता है जिनका गुह्यार्थ होता है, लेकिन वह ऐसी कोई बात नहीं कहता जिस पर तुम बाद में उसे पकड़ सको। वह लोगों की खुशामद करता लेकिन किसी को अपनी खुशामद नहीं करने देता। वह देखता बहुत कुछ है लेकिन अपने संग किस्से नहीं लिये घूमता और न लोगों की बुराई करता है। अगर वह किसी ऐसी कोठरी में पहुँच जाता है जो धुएँ से भरी है, तो ज़ोर-ज़ोर से नाक से सूँ-सूँ करता है और कहता है:

'जी' और ज़ोर से चटखारा मारता है, 'कोठरी में सिगरेट पी जा रही है।' फिर ओठ से चट से करता है और कहता है, 'सख्त मनाही है।'

मगर इस बात की रिपोर्ट वह नहीं करेगा। उसका चेहरा सदा परेशान रहता है और उस पर झुर्रियाँ पड़ी रहती हैं, मानों अन्दर ही अन्दर कोई सख्त तकलीफ उसे मथ रही हो। यह स्पष्ट है कि वह उस सरकार से कुछ लेना-देना नहीं चाहता जिसकी कि रोटी वह खाता है, जिसके शिकारों की वह दिन-रात फिक्र रखता है। उसे इस सरकार में विश्वास नहीं है; वह इसे चिरस्थायी नहीं मानता और न कभी उसने माना। इसीलिए वह अपने परिवार को ब्रेसलाउ से प्राग नहीं लाया, गो राइख के बहुत थोड़े अफसर होंगे जिन्होंने अधिकृत देश में ठूस-ठूसकर खाने का और नोचखसोट करने का यह मौका हाथ से जाने दिया हो। लेकिन जो लोग इस सरकार से लड़ रहे हैं, उनसे भी हाथ मिलाना उसके लिए उतना ही असम्भव है। वह बिल्कुल तटस्थ है, किसी ओर नहीं झुकता।

वह बहुत ईमानदारी से और सजग कर्तव्यबुद्धि से मेरी देखभाल करता। अपने ज़्यादातर मरीज़ों के संग उसका यही सलूक है, और वह अक़सर बहुत सख्ती से मना कर देता है कि वे कैदी जिन्हें बहुत ज़्यादा यातनाएँ दी जा चुकी हैं, फिर से और यातनाओं

के लिए ले जाये जाएँ। शायद इससे उसकी अन्तरात्मा शांत हो जाती है। बहरहाल कभी-कभी जब उसकी मदद की सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है, वह मदद करने से इन्कार भी कर देता है। शायद तब जब वह बहुत डरा हुआ होता है।

साधारण नागरिक की खास एक किस्म का वह नमूना है-आज की ताकतों के अपने डर और फिर कल क्या होगा उसके डर के बीच एकदम अकेला। वह हर तरफ समस्या हल करने के लिए आँखें दौड़ाता है, लेकिन वह हल उसे कहीं नहीं मिलता : चूहेदानी में फँसा हुआ अच्छा-खासा मोटा चूहा है वह।

बुरी तरह फँसा हुआ। निकलने की कोई उम्मीद नहीं।

‘फिलंक’

यह आदमी न तो एकदम न-कुछ है और न अभी उसका पूरा-पूरा चरित्र बन पाया है। अभी वह दोनों हालतों के बीच है। अभी उसके पास वह साफ दृष्टि नहीं है कि यह कहा जा सके कि उसके पास अपना व्यक्तित्व है।

उस तरह के दो आदमी यहाँ पर है। सीधे-सादे, निष्क्रिय रूप से संवेदनशील भी। पहले तो वे उन भयानक बातों से डर गये जिनमें कि वे जा पड़े हैं, और अब वे उनसे निकल भागने को राह पाना चाहते हैं। वे किसी भी तरह का मानसिक आधार खोजते हैं, क्योंकि उन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं है। वे तर्कबुद्धि की अपेक्षा अपनी सहज अन्तश्चेतना से इस आधार को खोजते हैं। अगर वे तुम्हारी कोई मदद करते हैं तो उसमें भाव यही है कि तुम उनकी मदद करोगे। इन लोगों को मदद देना ठीक है-इस समय भी और भविष्य में भी।

पांक्राट्स के तमाम जर्मन अफसरों में यही दो हैं जो लड़ाई के मोर्चे पर भी हो आये हैं।

हनोअर ज़्मोज़ो का एक दर्जी था जो बर्फ की मार से बीमार और बेकार होकर जल्दी ही पूर्वी मोर्चे से लौट आया था : यह बात अलग है कि उस बीमारी का सारा इन्तजाम उसने खुद किया था! अब वह श्वाइक की शैली में दार्शनिकों के समान बात करता है, ‘युद्ध लोगों के लिए नहीं है’, ‘मेरे लिए उसमें कुछ नहीं।’

हेयफर बाटा के जूते के कारखाने का एक प्रसन्नचित्त कारीगर है। वह फ्रांस के हमले में था, फिर अपनी फौजी ड्यूटी छोड़ कर भाग आया, बावजूद इसके कि उसे तरक्की मिलने वाली थी। जब कभी वह किसी झंझट में पड़ता-और रोज़ ही ऐसी सैंकड़ों झंझटें होती-तब वह ‘धत्तरे की!’ कहकर और हाथ हिलाकर उसको टालने की कोशिश करता।

इन दोनों की किस्मत और भावनाएँ दोनों ही बहुत कुछ एक सी थीं। लेकिन हेयफर दोनों में ज़्यादा निडर, ज़्यादा स्पष्ट ढंग से अपनी बात कहने वाला, और पूर्णतर व्यक्तित्व का आदमी था। लगभग सभी कोठरियों में उसका लकब ‘फिलंक’ था।

जिस दिन वह ड्यूटी पर होता है वह दिन कोठरी वालों के लिए खैरियत से गुजरता है। वह तुम्हें ज़ोर से डपटता है तो साथ ही साथ आँख भी मार देता है, यह दिखाने के लिए कि उसका मतलब तुम्हें डपटना नहीं बल्कि नीचे बैठे हुए इंस्पेक्टर को सुनाना है कि वह कैदियों के संग कितनी सख्ती से पेश आता है। लेकिन सख्ती

दिखलाने की उसकी ये नाटकीय कोशिशें बेकार जाती है। अब किसी को उसकी बात पर यकीन नहीं होता और कोई हफ्ता नहीं जाता कि उसे सजा न मिलती हो।

‘धत्तरे की!’ कहकर वह लापरवाही के अन्दाज़ से हाथ हिलाता है और फिर वही रफ्तार बेढंगी। वह अब भी संतरी नहीं, जूते के किसी कारीगर का नौजवान चंचल सहायक ही है जो कि वह पहले था। उसे कभी-कभी कैदियों के संग बड़े आनन्दपूर्वक, यहाँ तक कि मस्ती से गोटी खेलते पकड़ा जा सकता है। उसके एक मिनट बाद वह कैदियों को कोठरी में से गलियारे में खदेड़ देगा और कोठरियों का मुआयना करेगा। अगर मुआयना बहुत देर तक चला और तुम्हें कौतूहल हुआ कि इतनी देर क्यों हो रही है और तुमने कोठरी के अन्दर झाँककर देखा तो क्या देखोगे कि हज़रत मेज पर बैठे, सिर बाँहों पर टिकाये सो रहे हैं। बहुत शान्ति से और बड़े मजे में सो रहे हैं। यहाँ उसे अपने अफसरों का डर नहीं रहता क्योंकि गलियारे में खड़े कैदी उसकी पहरेदारी करते हैं और कोई खतरे की बात होने पर उसे सावधान कर देते हैं। ड्यूटी के वक्त सोना उसके लिए ज़रूरी हो जाता है क्योंकि उसका रात का आराम उस लड़की की नज़र हो जाता है जिसे वह दुनिया में सब से ज़्यादा चाहता है।

नात्सीवाद की जीत होगी या हार? ‘धत्तरे की! तुम क्या यह सोचते हो कि यह सर्कस कयामत के दिन तक इसी तरह चलता रहेगा?’

अपनी गिनती वह उन लोगों में नहीं करता। यही उसकी सबसे दिलचस्प बात है। इससे भी बड़ी बात यह है कि वह उन लोगों का नहीं होना चाहता और न है! अगर तुम किसी दूसरी जगह कोई गुप्त चिड़ी भेजना चाहो तो उसे फिलंक के सुपुर्द कर दो। अगर तुम बाहर किसी को कुछ कहलाना चाहो, तो फिलंक तुम्हारा संदेश बाहर ले जायेगा। अगर तुम्हें किसी से बात करने की ज़रूरत हो जिसमें तुम उसे कायल कर सको कि वह बात ठीक नहीं है, और इस तरह कुछ और लोगों की जानें बचा सको, तो फिलंक तुम्हें उसकी कोठरी में ले जायेगा और बाहर खड़ा होकर पहरा देगा-अन्दर से फूलकर कुप्पा, वैसे ही जैसे शहर का छोकरा पुलिसवाले को बुत्ता देकर। अक्सर उसे समझाना पड़ता है कि ज़रा होशियारी से काम ले-खतरे के बीच उसे खतरा कुछ बहुत मालूम नहीं होता। वह लोगों के संग जो भलाई करता है उसका असली महत्व क्या है, इसकी उसे ज़रा भी चेतना नहीं है। अपनी जान से जितना बन पड़ता है उतना कर देने से स्वयं उसके मन को शान्ति मिलती है, बस इतना है। लेकिन वह चीज उसके स्वाभाविक विकास में बाधक है।

अभी तक उसके व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हुआ है, मगर हो रहा है।

‘कोलिन’

मार्शल लॉ के दिनों की एक शाम की बात है। एस.एस. की वर्दी पहने जिस संतरी ने मुझे मेरी कोठरी में दाखिल किया, उसने बहुत ऊपरी-ऊपरी ढंग से मेरी जेबों की तलाशी ली।

‘क्या हालचाल हैं?’ उसने धीरे से पूछा।

‘मालूम नहीं। सुना है कल मुझे गोली मार दी जायेगी।’

‘सुनकर डर लगा?’

‘मैं पहले ही से जानता था।’

एक मिनट के लिए उसने यंत्रवत् मेरे कोट के सामने वाले हिस्से पर हाथ दौड़ाया।

‘मुमकिन है मार ही दें। मुमकिन है कल न मारें, शायद और कभी, शायद कभी नहीं। लेकिन ऐसे समय में हर बात के लिए तैयार रहना ही ठीक है...’

फिर वह चुप हो गया।

‘लेकिन अगर ऐसा ही हो, तो क्या तुम किसी को कुछ कहलाना चाहोगे? या...कुछ लिखना चाहोगे? तत्काल प्रकाशन के लिए नहीं, समझे न, भविष्य के लिए। तुम कैसे यहाँ आये, क्या किसी ने तुम्हारे साथ दगा की, कुछ लोगों का आचरण कैसा रहा। यह सब बातें, जो तुम जानते हो तुम्हारे संग खत्म नहीं हो जायेंगी।’

क्या मैं कुछ लिखना चाहूँगा? गोया उस चाह से ही मेरा सारा जिस्म सुलग न रहा हो!

एक मिनट में वह कागज़-पैसिल ले आया। मैंने खूब सावधानी से उसे छिपा दिया। जिसमें किसी भी मुआइने में वह उन लोगों के हाथ में न पड़े।

मगर बहुत दिन तक मैं उन्हें हाथ नहीं लगा सका।

यह इतनी बड़ी बात थी कि मुझे यकीन नहीं होता था। अपनी गिरफ्तारी के कुछ हफ्ते बाद इस अँधेरी इमारत में एक इन्सान से मुलाकात होना कैसी अद्भुत बात थी, और वह इन्सान उन लोगों की वर्दी में जो सिर्फ डपटना और मारपीट करना जानते हैं—उनकी वर्दी में एक इंसान, एक ऐसा दोस्त पाना जो तुम्हारी तरफ मदद का हाथ बढ़ाता है और इस बात में तुम्हारी मदद करता है कि तुम कम से कम एक पल के लिए उन लोगों से बात कर सको जो इस प्रलय के बाद भी जीते रहेंगे—और उन लोगों से भी जो नहीं रहेंगे। और ठीक उसी पल में जब कि वे गोली से उड़ाये जाने वाले लोगों का नाम पुकार रहे हैं, उन लोगों की संगत में जो खून पीकर मतवाले हो रहे हैं और उन लोगों के बीच जिनके गले डर के मारे रुंधे हुए हैं, जो अगर चिल्लाना चाहें भी तो नहीं चिल्ला सकते। ऐसी हालत में एक मित्र पाना—नहीं, यह सचमुच ऐसी बात है कि सहसा विश्वास नहीं होता। अगर यह बात सच नहीं है तो कम से कम चेतावनी तो है ही। लेकिन उस आदमी में कितना जबर्दस्त मनोबल होगा जो मेरी जैसी स्थिति में पड़े हुए आदमी की तरफ अपने आप मदद का हाथ बढ़ाता है! सचमुच कैसा असीम साहस!

कोई एक महीना गुज़र गया। मार्शल लॉ उठा लिया गया था, डॉटना-डपटना खत्म हो गया था, उन सबसे भयानक घड़ियों की अब केवल स्मृतियाँ रह गयी थीं। शाम का वक्त था और मैं जब यातनाएँ भुगतकर लौटा तो उसी संतरी ने मुझे कोठरी के अंदर किया।

‘देखता हूँ कि तुम सह ले गये। सब ठीक था? उसके चेहरे से ज़ाहिर था कि उसे बड़ी फिक्र है।’

मैं समझ गया कि उसका क्या मतलब है। उस सवाल ने मेरे दिल को बहुत गहराई से छुआ। हर बात से ज़्यादा उस सवाल ने मुझे इस बात का पूरा यकीन दिला दिया कि वह सच्चा और ईमानदार है, कोई धोखा नहीं खेल रहा है। सिर्फ वही

आदमी यह सवाल कर सकता था जिसे उसका नैतिक अधिकार हो। इस क्षण से मैं उसका विश्वास करने लगा : वह अब हम में से एक था।

पहली नज़र में तो वह एक अजीब सा आदमी था। गलियारों में वह अकेला घूमता-खामोश, मुँह बन्द, चौकन्ना और चारों तरफ निगाह रखने वाला। किसी ने कभी उसे डॉटते-डपटते नहीं सुना। और न मारते-पीटते देखा।

‘फिर जब स्मेटांज़ इधर देखे तो तुम मुझे एक घूँसा मारना, मेरे कहने से।’ दूसरी कोठरी में मेरे पड़ोसी उससे दरखास्त कर रहे थे कि कम से कम अपनी खातिर वह जरा और मुस्तैदी दिखलाये!

‘उसकी ज़रूरत नहीं है,’ उसने सिर हिलाते हुए कहा।

वह चेक छोड़ और कोई जबान नहीं बोलता। उसकी सारी वज़ा-क़ता, चाल-ढाल, हर चीज़ से यह बात साफ थी कि वह बाकी सबसे भिन्न है, लेकिन अगर कहीं कोई तुमसे पूछ बैठता कि वह कौन सी बात है तो बतलाना तुम्हारे लिए कठिन हो जाता। वे लोग भी इस बात को महसूस करते थे लेकिन उसे पकड़ नहीं पाते थे।

जहाँ कहीं भी उसकी ज़रूरत होती थी, पता नहीं वह कैसे पहुँच जाता है। जहाँ लोगों में बेचैनी और घबराहट होती है। वहाँ उन्हें शांत करता है। जहाँ लोग सिर लटकाकर बैठते हैं वहाँ वह उनकी हिम्मत बढ़ाता है। जब बाहर बहुत सी जानें खतरे में होती हैं और उन लोगों से हमारा संबंध टूट गया रहता है जो उनकी जान बचा सकते हैं, तो वह नये संपर्क पैदा करता है। बहुत छोटी-छोटी, तफसील की, बातों में वह अपने आपको नहीं उलझाता; वह बहुत कायदे से और बड़े पैमाने पर काम करता है।

यह कोई नयी बात नहीं है। शुरू से, जब से उसने नात्सियों की नौकरी की, तभी से यह बात उसके दिमाग में थी।

आडोल्फ़ कोलिंस्की, चेक संतरी जिसकी हम बात कर रहे हैं, मोरेविया के एक पुराने चेक परिवार का है। हाडेक क्रालोव और फिर पांक्राट्स में चेक कैदियों पर पहरा रखने के काम के लिए जब उसने दरखास्त दी थी तो मसहलतन् उसने अपने को जर्मन बतलाया था। जो लोग कि उसे जानते थे, उनके दिमाग में यकीनी उसके बारे में कड़वे विचार होंगे। चार साल बात जर्मन जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट कोलिंस्की के मुँह के सामने घूँसा ले जाते हुए उसे धमकाता है।

‘मैं यह चेक-पना तुम्हारे अन्दर से निकाल दूँगा!’

अब नहीं, ज़रा देर हो गयी! सुपरिन्टेन्डेन्ट का खयाल गलत है। कोलिंस्की का चेक-पना निकालने भर से काम नहीं चलेगा, उसकी इंसानियत को ही पीस डालना पड़ेगा, तब शायद बात बने। वह एक जवाँमर्द जिसने खूब समझ-बूझकर अपनी मर्जी से दुश्मन की नौकरी की ताकि उसके घर में घुस कर वह उससे लड़ सके और दूसरों को लड़ने में मदद दे सके। हर वक्त के खतरे ने अगर उसके साथ कुछ किया है तो यही कि उसने उसके इरादे को और फौलाद बना दिया है।

...क्रमशः जारी

प्रथम साम्राज्य की स्थापना

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

आर्य जातियों के परस्पर विलीनीकरण से जनपदों का विस्तार हुआ और महा-जनपद बने। महा-जनपदों ने अब ईसा-पूर्व छठी सदी में राज्य विस्तार किया। क्रमशः राजतन्त्र बृहत्तर होता गया तथा प्राचीन गणतन्त्रीय परम्पराएँ क्षीण होने लगीं। इसके साथ ही कला-कौशल की अभूतपूर्व अभिवृद्धि, धन-धान्य की समृद्धि, व्यापार-वाणिज्य का चमत्कारपूर्ण उत्कर्ष सामने आया। भारत ने विश्व का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। विदेशी शक्तियों के आक्रमणों का प्रतिरोध हुआ तथा भारत के प्रथम महान साम्राज्य की स्थापना हुई। गौतम बुद्ध के समय से (ई. पू. छठी सदी से) लेकर तो चन्द्रगुप्त मौर्य तक (ई. पू. तीसरी सदी तक) प्रदीर्घ काल में भारत का अभूतपूर्व विकास हुआ।

ईसा की छठी सदी में पूर्व भारत के मगध राज्य का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। उसने ऐश्वकव, ऐल, पांचाल आदि पुराने पश्चिम भारतीय राज्यों को पराजित करके अपना प्रभाव जमा लिया था। महावीर वर्धमान, गौतम बुद्ध की अखिल भारतीय कीर्ति के फलस्वरूप, पूर्व भारत पर सबका ध्यान गया।

इस समय पुरानी जातियों के परस्पर विलयन से महा-जनपद बनकर सामने आ गये थे। ये महा-जनपद कुल सोलह थे। वे भी अब एक-दूसरे में विलीन हो रहे थे। राजनीति के रंगमंच पर बड़ी तेज़ी से परिवर्तन हो रहा था। अंग मगध का एक भाग बन गया था। कोशल ने काशी पर अधिकार कर लिया था। निरंकुश स्वेच्छाचारी राजतन्त्र का विकास हो रहा था। उन दिनों के हिसाब से राजनैतिक अवस्था के विकास का सर्वोच्च स्तर, निरंकुश राजतन्त्र ही था। हाँ, लिच्छवी, मल्ल और शाक्य-जैसी जातियों के गणतन्त्र भी थे, जो अपनी प्रभुसत्ता और राज्य-व्यवस्था अक्षुण्ण रखने के लिए सजग रहा करते थे।

निरंकुश राजतन्त्र के विकास के साथ ही साथ, वैश्यों का उत्कर्ष उन दिनों की प्रधान घटना है। उनकी आर्थिक-सामाजिक स्थिति का प्रभाव राजन्य वर्ग पर भी पड़ता।

अन्तर्देशीय व्यापार के साथ ही, विदेशों से भी खूब व्यापार होता था। किंतु इसके पीछे 'शिल्पी संघों' की ताकत थी। ये शिल्पी संघ कारीगरों और शिल्पियों के अपने जातीय संघ थे। इन संघों का विकास, उस युग की तीसरी महत्वपूर्ण घटना है। इन

संघों में संबद्ध शिल्पियों ने वस्तुओं का उत्पादन खूब बढ़ा दिया था, साथ ही कला-कौशल की भी खूब वृद्धि हुई। राजन्य वर्ग तथा सैनिक वर्ग निरंतर परिवर्धित और विस्तृत होता जा रहा था। बड़े नगरों का उत्कर्ष हो चुका था। इन सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, शिल्पी संघ अवतरित हुए थे। प्रत्येक संघ में विशेष-विशेष प्रकार का काम होता। जो काम एक संघ करता, वही काम दूसरा संघ न करता। इस संघ-पद्धति के फलस्वरूप कार्य-विभाजन अधिक कुशल हो गया, साथ ही उत्पादन-सामर्थ्य भी बढ़ गया। अनुमान है कि इन्हीं जातीय संघों से, आगे चलकर, पेशेवर जातियाँ बनीं-जैसे, तेली, धोबी, लुहार, सुनार इत्यादि।

व्यापार-व्यवसाय के लिए, सुरक्षा तथा मार्गों की निष्कण्टकता तथा व्यवस्थित लेन-देन पद्धति आवश्यक थी। व्यापक विस्तार वाले निरंकुश राजतन्त्र इस प्रकार की सुरक्षा और व्यवस्था उत्पन्न कर सकते थे। इसी आर्थिक भूमि के आधार पर निरंकुश राजतन्त्र का विकास हुआ।

मगध का अभ्युदय

बिम्बिसार

इन सोलह राज्यों में सबसे ज़्यादा आगे आये मगध, कोशल, वत्स और अवंती। जिन दिनों महात्मा बुद्ध लोगों को अपना उपदेश दे रहे थे, उन दिनों शिशुनाग वंश का बिम्बिसार मगध में राज्य कर रहा था। बिम्बिसार ने 52 वर्ष तक राज्य किया। उसने पूर्व-स्थित अंग को मगध में मिला लिया, उधर, कोशल के राजा प्रसेनजित की बहन से विवाह करके 'कासि' नामक एक गाँव भी प्राप्त कर लिया। महात्मा बुद्ध से मिलकर बिम्बिसार बहुत प्रभावित हुआ था।

अजातशत्रु

(बिम्बिसार का पुत्र) बहुत महत्वाकांक्षी, क्रूर, उदण्ड किन्तु रणकुशल था। उसने अपने पिता को तरह-तरह की यन्त्रणाएँ देकर मार डाला। स्वयं राजसिंहासन पर बैठ गया। उसकी सौतेली माता-कौशल के राजा प्रसेनजित की बहन-अपने पति के शोक में मर गयी।

अजातशत्रु ने कोशलनरेश राजा प्रसेनजित से युद्ध किया। प्रसेनजित ने उसे बन्दी बना लिया, फिर छोड़ दिया। अजातशत्रु ने गण्डकी नदी के तट पर लिच्छवि गणतन्त्र पर हमला किया

और उनका राज्य मगध में मिला लिया। उन दिनों मगध की राजधानी राजगढ़ थी। उसे वह पसन्द नहीं थी। गंगा और सोन नदी के संगम पर उसने नयी राजधानी की नींव डाली। वह आगे चलकर इतिहास प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नामक नगर हुआ।

उन दिनों, कोशल का राजा प्रसेनजित बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। उसने गान्धार महा-जनपद के तक्षशिला (पेशावर के पास टैक्सिला) विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी थी। वह कलाविद् था, शास्त्रार्थ करता था, विद्वान था। प्रसेनजित के पुत्र विदूडभ ने शाक्य जाति के गणतन्त्र का संहार करके, उनके राज्य को कोशल से जोड़ लिया। इस प्रकार पूर्वी भारत में मगध और कोशल राज्य प्रबल हो उठे।

उधर, पश्चिम भारत में, वत्स और अवन्ती के बीच बड़ी ही प्रतिस्पर्धा थी। इन दो राज्यों के और पश्चिम में, बिल्कुल दूसरे ही प्रकार से परिवर्तन हो रहा था। पंजाब में छोटे-छोटे बहुत-से राज्य थे और उनमें आपस में मार-काट मचा करती थी।

ईरानी आक्रमण

ठीक उन्हीं दिनों ईरान में एक प्रबल साम्राज्य की स्थापना हुई। ई. पू. सन् 558 से 529 के बीच, ईरानी सम्राट, कुरुष (सायरस) ने हिन्दूकुश तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया और गान्धार उसके साम्राज्य का एक भाग हो गया। कुरुष के अनन्तर, ईरान की राजगद्दी पर दारियबहु (डेरियस) आसीन हुआ। उसने ई. पू. सन् 517-16 के लगभग पंजाब पर हमला किया, और उसके उत्तर-पश्चिमी हिस्से तथा सिन्धु प्रदेश को अपने साम्राज्य में मिला लिया। ईरान के क्षत्रप (सैनिक प्रान्ताधीश) अब पंजाब में रहते, और मालगुजारी वसूल करते। पंजाब अकेले की मालगुजारी कोई डेढ़ करोड़ रुपये थी। पंजाब, गांधार और काम्बोज में ईरानियों का साम्राज्य दो शताब्दियों तक रहा। राजनैतिक दृष्टि से ईरानियों के शासन का भारत के इतिहास में विशेष महत्व नहीं है; किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत है। ईरानी साम्राज्य से सम्पर्क के फलस्वरूप भारतीय विद्वान, यूनानियों तक पहुँचे। यूनानियों को भारत के सम्बन्ध में बहुत-सी जानकारी मिली, साथ ही ईरान और यूनान से स्थल मार्ग द्वारा व्यापार भी होने लगा।

उस काल में ईरान के वैभव और उत्कर्ष की कथाएँ दूर-दूर तक पहुँची थीं। ईरान का राजदरबार बहुत समृद्ध और सम्राट बहुत शक्तिशाली समझा जाता था। ईरान एक निरंकुश राजतन्त्र था। भारत के नये निरंकुश राजतन्त्रों ने विशेषकर मौर्यों ने, उसमें अपना ही प्रतिरूप देखा। मौर्यों ने बहुत-सी प्रथाएँ ईरानियों से अपनायीं। भवन-निर्माण कला की बहुत-सी बातें ईरान से स्वीकृत कीं।

किन्तु, ईरान-भारत सम्पर्क की एक महत्वपूर्ण देन है- खरोष्ठी लिपि। ईरानियों ने भारत में आरामाई लिपि प्रचलित की,

जिससे बिगड़कर यह नयी लिपि बनी। खरोष्ठी लिपि में बहुत-से अभिलेख पाये जाते हैं।

सिकन्दर का आक्रमण

ज्यों ही यूनानियों को यह मालूम हुआ कि ईरान इतना कमजोर हो गया है कि एक आघात से वह नष्ट हो सकता है, यूनान के एक प्रदेश मैसिडान के राजा सिकन्दर ने ईरान पर चढ़ाई करके उसे तहस-नहस कर दिया। सिकन्दर ने अब तक मिस्र, एशिया मायनर (आधुनिक तुर्की), तथा ईरान में अपना विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था। जगद्विजेता सिकन्दर अब गान्धार पर चढ़ आया। ईसा-पूर्व दिसम्बर 326 या और जनवरी 327 में, वह एक विशाल सेना के साथ खैबर दर्रे को पार करके सिन्धु नदी की ओर बढ़ा। गान्धार की नगरी तक्षशिला का वृद्ध राजा अम्भि, जो रावी और झेलम के पौरव राज्य से आर्तकित रहा करता था, उसने विदेशी आक्रान्ता को सहायता का वचन दिया। सिकन्दर ने शीघ्रतापूर्वक सिन्धु नदी पर पुल बनाया। सेना इस पार आ गयी। पुष्कलावती का राजा अष्टकराज वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया। दूसरा दल, जो सिकन्दर के नेतृत्व में था, उत्तर-पश्चिमी पर्वतीय क्षेत्र के राजाओं से लड़ा। किन्तु, इधर रावी और झेलम के किनारे के राजा पुरु ने सिकन्दर को युद्ध के लिए ललकारा।

अपनी विशाल सेना लेकर, राजा पुरु युद्ध के लिए तैयार खड़ा हो गया। उपेक्षा करने से पुरु की सेना जड़ हो गयी थी। मौसम ने भी साथ नहीं दिया। तेज वर्षा हुई, ज़मीन रपटीली बन गयी। सिकन्दर की सेनाओं ने पूरे ज़ोर और ताक़त के साथ हमला किया और पुरु सेना की पंक्तियाँ तोड़ दीं। गौरवशाली राजा पुरु बुरी तरह घायल हुआ और कैदी बना लिया गया।

इस बीच एक अप्रत्याशित घटना हुई। सिकन्दर जिन इलाकों को पीछे छोड़ आया था, उनमें बगावत फैलने की खबरें आयीं। उधर, सिकन्दर के फौजी सिपाहियों ने यह माँग शुरू की कि वे अब लड़ते-लड़ते थक गये हैं, और उन्हें जल्दी घर लौट जाना चाहिए। सिकन्दर उनकी माँग को ठुकरा न सका और बहुत ही उदास मन से वह यूनान की ओर मुड़ा। ई. पू. सन् 324 में, रास्ते में ही वह मर गया।

सिकन्दर वापिस तो गया, लेकिन अपने पीछे भयानक विध्वंस के दृश्य छोड़ता गया। उसने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ जीतीं, लेकिन वह बहुत थोड़ी ज़मीन कब्जे में ले सका।

किन्तु, सिकन्दर ने उस नये युग का उद्घाटन किया, जिसमें यूनानियों और भारतीयों के सम्पर्क बढ़ते गये तथा जिसके फलस्वरूप हमारी कला और शिल्प में एक नया विकास प्रस्तुत हुआ।

जिस समय सिकन्दर गान्धार पार करके झेलम के किनारे पहुँच गया था, उस समय मगध का सम्राट धनानन्द अपने

राजप्रासाद के एक प्रकोष्ठ में स्वर्ण-मुद्राएँ गिन रहा था। उसे इस बात की न खबर थी, न परवाह थी कि उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेशों में क्या हो रहा है और क्या नहीं हो रहा है। धनानन्द-जैसा कि उसका नाम था-धन के आधिकाधिक संग्रह में बड़ा आनन्द लेता था। वह बड़ा कंजूस था; जनता उसका तिरस्कार करती थी।

यह धनानन्द कौन था? प्रतापी अजातशत्रु की चार पीढ़ियों बाद, महा-नन्दिन नामक एक राजा हुआ जिसका अवैध पुत्र था महापद्यनन्द। पुराणों में कहा गया है कि महापद्यनन्द जाति का नाई था। धोखे से राजा को मरवाकर खुद राजगद्दी पर बैठ गया था। वह नन्द वंश का संस्थापक था।

महापद्मनन्द

इसमें सन्देह नहीं कि महापद्यनन्द एक बहुत बड़ा योद्धा और विजेता था। वह पुराणों द्वारा 'क्षत्रन्तक' (अर्थात् क्षत्रियों का नाश करने वाला) कहा गया है। उसने प्राचीन आर्यवंशीय इक्ष्वाकु, पांचाल, कुरु, काशि, अश्मक और हैहय आदि नृपतियों को पराजित किया तथा उनकी सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिला दी।

महापद्यनन्द के अनन्तर, मगध साम्राज्य फैलता ही गया। एक समय वह भी आया जब नन्दों के अधीन मगध साम्राज्य में, दक्षिण भारत के कुछ प्रदेशों से लेकर तो मालवा, उत्तर प्रदेश, बंगाल, उड़ीसा तक का पूरा क्षेत्र शामिल हो गया।

चाणक्य

गान्धार देश के तक्षशिला विश्वविद्यालय का एक विद्वान ब्राह्मण विष्णुगुप्त जब धनानन्द से मिलने आया तो उसने उसे अपमानित करके निकाल दिया। विष्णुगुप्त ने प्रतिज्ञा की कि वह उससे प्रतिशोध (बदला) लेगा। पाटलिपुत्र से लौटकर जब वह तक्षशिला की ओर जा रहा था तो जंगल में उसे एक बालक खेलता हुआ दिखायी दिया। प्रतिभावान विष्णुगुप्त ने जब उससे कुछ जानकारी लेनी चाही तो उस बालक ने भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। बताया जाता है कि चन्द्रगुप्त किसी वन्य पशु से, निर्भय होकर, खेल रहा था। विष्णुगुप्त उसकी प्रतिभा को लेकर मुग्ध हो गया। विष्णुगुप्त अपने साथ उस बालक को लेता गया। उसने उसे युद्ध-कला तथा प्रशासन कार्य की शिक्षा-दीक्षा दी।

चन्द्रगुप्त मौर्य

चन्द्रगुप्त के पास अपने स्वयं की प्रतिभा तथा कार्य-क्षमता थी। विष्णुगुप्त ने उसमें सम्राट बनने की महत्वकांक्षा उत्पन्न भी कर दी थी। उसने एक विशाल सेना का संगठन किया और वह मगध पर चढ़ दौड़ा। थोड़ी विजय-पराजय के उपरान्त उसने पाटलिपुत्र पर धावा मारा। उसकी सेनाएँ राजधानी की सड़कों पर उमड़ पड़ीं। थोड़ी-सी लड़ाई के बाद, महल के फाटक टूट गये। धनानन्द मारा गया। राजा के वध से, नगर की जनता में खुशी

फैल गयी। उत्सव और समारोह होने लगे। इस प्रकार विष्णुगुप्त की प्रतिज्ञा पूरी हुई। चन्द्रगुप्त मगध का सम्राट हुआ, और विष्णुगुप्त, जो चाणक्य भी कहलाता था, उसका मंत्री बना। प्रसिद्ध अर्थशास्त्र का लेखक यही चाणक्य विष्णुगुप्त है।

मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त को तुरंत ही उत्तर-पश्चिमी सीमान्तों पर दृष्टि डालनी पड़ी। भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त में सिल्यूकस निकेटॉर नामक एक यूनानी राजा था। उसने सोचा कि नन्द वंश के ह्रास के साथ-साथ अब भारत में आक्रमण का रास्ता खुल गया है। उसने ई. पू. सन् 304 में भारत पर आक्रमण कर दिया।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने विशाल सेना सहित पाटलिपुत्र से गान्धार की ओर प्रयाण किया। वह बड़ी तेज़ी से उत्तर की ओर बढ़ा, और सिल्यूकस को ज़िन्दगी का मज़ा चखा दिया। सिल्यूकस ने सम्मानपूर्ण समझौते की माँग की। पाँच सौ भारतीय हाथियों के बदले, उसे अपनी पुत्री हेलेन, कन्दहार, हिरात, काबुल और बलूचिस्तान के हिस्से चन्द्रगुप्त को देने पड़े। सिल्यूकस ने अपना एक दूत मेगास्थनीज़ मौर्य दरबार में नियुक्त किया।

चन्द्रगुप्त मौर्य, सही मानों में, भारत का प्रथम सम्राट है। उसका साम्राज्य उत्तर-पश्चिम के हिरात-काबुल से लेकर तो सुदूर पूर्व के प्रदेशों तक-बंगाल और आसाम तक-फैला हुआ था। सौराष्ट्र भी उसके अधीन था, तो मैसूर तक का पूरा दक्षिणी भारत भी उसके कब्जे में आ गया था।

प्रशासन व्यवस्था

चन्द्रगुप्त ने अपने साम्राज्य को प्रान्तों में विभाजित किया। प्रत्येक प्रान्त का एक सर्वोच्च शासक होता जो, साधारणतः सम्राट का पुत्र या उसके निकट का कोई सम्बन्धी रहता। प्रान्त ज़िलों में विभक्त थे। ज़िले का शासक प्रान्त-शासक के बिल्कुल अधीन रहता। साधारणतः वह भी क्षत्रिय ही रहता, ज़िले के अन्तर्गत गाँव रहते, प्रत्येक गाँव का मुखिया राजस्व वसूल करता।

महत्व की बात यह है कि चन्द्रगुप्त ने, (1) एक ओर, अपने तथा उच्च शासन वर्ग के बीच, अर्थात् सम्राट के और उच्च अधिकारियों के बीच, घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखने के लिये, तथा (2) दूसरी ओर, अपने और जनता के बीच, अर्थात् सम्राट के तथा सामान्य जन के बीच, घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखने के लिये, (अ) संवाददाताओं तथा (ब) गुप्तचरों का विस्तृत और व्यापक संगठन तैयार कर रखा था। ये संवाददाता और गुप्तचर, एक ओर अधिकारियों पर कड़ी नज़र रखते, तो दूसरी ओर, जनता की भावनाएँ तथा आकांक्षाएँ भी सम्राट तक पहुँचाते। मौर्य राज्य की प्रशासन व्यवस्था प्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा चलायी जाती। उन्हें नियमित रूप से वेतन मिला करता। स्वयं चन्द्रगुप्त षड़यन्त्रों से आतंकित रहता। उसने हिंसा के बल पर

तथा कूटनैतिक षड्यन्त्रों द्वारा राज्य प्राप्त किया था। सम्राट को अपनी अंगरक्षा की बड़ी चिन्ता रहती। ईरानी प्रथा के अनुसार, उसकी अंगरक्षक, सशस्त्र नारियाँ होतीं। राजदरबार में भी रक्षक का कार्य शस्त्रधारी स्त्रियाँ ही करतीं। जब राजा शिकार के लिए निकलता तब भी उसके साथ शस्त्रधारी अंगरक्षिकाएँ बराबर बनी रहतीं।

सिल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज़ ने चन्द्रगुप्त के काल का विस्तृत वर्णन किया है। मेगास्थनीज़ के अनुसार, चंद्रगुप्त के लिए, आराम सचमुच हराम था। अधिकांश समय वह प्रशासन तथा राजप्रबंध ही को देता। वह सर्वोच्च न्यायाधीश भी था। राजसभा में किसी मामले पर बहस हो चुकने के बाद, वह अपना फैसला सुना देता। राजमहल के दरवाजे सबके लिए खुले हुए थे। उस महल के खम्भों पर सोने का पानी चढ़ा हुआ था।

पाटलिपुत्र एक विशाल वैभव सम्पन्न नगर था। (नगर) चारों ओर दीवार से घिरा हुआ था, उसमें 570 बुर्ज, 64 फाटक थे। नगर 9^{1/2} मील लम्बा और 1 मील चौड़ा था। नगर का सर्वोत्तम तथा सर्वाधिक सुन्दर भवन राजप्रसाद था। उसके भग्नावशेषों से ज्ञात होता है कि इसकी निर्माण-योजना ईरानी ढंग की थी। एक प्रकार का संस्कार भी होता था- जिसे केश-प्रक्षालन संस्कार कहते हैं। यह सब ईरानी प्रभाव का द्योतक है।

नगर-व्यवस्था

पाटलिपुत्र के प्रशासन के लिए छह समितियाँ थीं। हर एक के पाँच सदस्य होते। ये कुलीन घराने के मान्यता प्राप्त लोग थे। एक समिति के ज़िम्मे विदेशी लोगों की देखभाल का काम था। उनकी सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध था। यदि उनमें से कोई मर जाता तो राज-व्यय से उसको दफनाया जाता, यदि उसकी सम्पत्ति होती तो उस सम्पत्ति को उसके अपने देश में भेज दिया जाता। यदि विदेशी व्यक्ति अपने देश जाने के लिए निकलते, तो उनकी सहायता के लिए सरकारी प्रबन्धक रहते। साथ ही, विदेशी व्यक्तियों की प्रत्येक गतिविधि पर शासकों की बारीक नज़र रहती। पाटलिपुत्र में उनका एक मुहल्ला-का-मुहल्ला ही आबाद था।

एक समिति औद्योगिक कलाओं की तथा उनसे संबंधित अन्य बातों की देखभाल करती। एक ऐसी भी समिति थी, जिसका कार्य उपयोगी आँकड़ों को जमा करना होता। एक

समिति माप-तौल की देख-रेख करती और साथ ही इस बात की चौकसी रखती कि वस्तुएँ (अ) उचित समय पर (ब) सार्वजनिक सूचना द्वारा बेची जा रही हैं या नहीं। जैसा कि बताया जा चुका है, उन दिनों शिल्पियों के संघ थे-एक वस्तु एक ही संघ वाला पैदा करता, उसे दूसरा नहीं बना सकता था। उसी प्रकार, एक दुकानदार एक ही प्रकार की वस्तुएँ रख सकता था। बाज़ार की देखभाल करने वाली भी एक समिति थी। एक अन्य समिति सिर्फ़ बिक्री-कर वसूल करने के लिए थी।

ये सारी समितियाँ सामूहिक रूप से सब बातों का निरीक्षण करतीं-तब उनका रूप सामान्य, प्रशासन-सभा जैसा हो जाता। इस प्रशासन-सभा के ज़िम्मे बन्दरगाहों, रास्तों, बाज़ारों, सरकारी इमारतों और मन्दिरों की देखभाल का काम था।

चन्द्रगुप्त मौर्य सेना के भरोसे सारे भारतवर्ष पर राज करता था। उसके पास छह लाख से अधिक सेना के प्रशासन के लिए पाँच-पाँच सदस्यों की छह समितियाँ बनायी गयी थीं, जो जहाज़ी सेना, अश्व-सेना, युद्ध-स्थलों के दस्ते, पैदल फ़ौज, गज-सेना, परिवहन, रसद, फ़ौजी भरती और सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति किया करतीं। एक विशेष प्रकार के धनुष्य, जो आदमी के कद के होते और पैर से चलाये जाते, तथा लम्बे-लम्बे तीर, जैसे ही एक लम्बी-चौड़ी ढाल मुख्य हथियार थे। इसके अतिरिक्त, छोटी लेकिन चौड़े फालवाली तलवारें भी होतीं। कभी-कभी सिपाही दोनों हाथों से तलवार चलाते।

मेगास्थनीज़ लिखता है कि “देशवासियों के पास, भरण-पोषण के प्रचुर साधन होने से उनका जीवन-स्तर साधारण स्तर से ऊँचा है और उनकी यह विशिष्टता है कि वे गर्व से सिर ऊँचा करके चलते हैं। वे विभिन्न कलाओं में भी निपुण हैं, जैसे कि स्वतन्त्र वातावरण में साँस लेने वाले और स्वच्छतम जल पीने वाले मनुष्यों से आशा की जाती है।” मेगास्थनीज़ ने लिखा है कि लोग ईमानदार हैं और वे अपने घरों पर ताले नहीं लगाते हैं।

किन्तु, विलास-वैभव में पलने वाला यह चन्द्रगुप्त अपने वृद्धायकाल (वृद्धावस्था) में तपस्वी जीवन के लिए लालायित हुआ। उसने ई. पू. 3000 में, अपने पुत्र बिम्बिसार को राज-सूत्र सौंप दिये, और वह दक्षिण में विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने लगा। कहते हैं कि उसने जैन धर्म स्वीकार कर लिया।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए